BASO (N) 302

भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिंतक

(Leading thinkers of Indian Sociology)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

तीनपानी बाईपास मार्ग, ट्रांसपोर्ट नगर के पीछे, हल्द्वानी263139

नैनीताल, उत्तराखण्ड़

फोन न0- 05946-26712 ,06713

Toll free No. : 18001804025

Email: info@uou.ac.in Website: https://uou.ac.in

अध्ययन मण्डल)**BOARD OF STUDIES)**

अध्यक्ष	**संयोजक**
कुलपति, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	निदेशक, समाज विज्ञान विद्याशाखा

अध्ययन मण्डल के सदस्यों के नाम

1. **प्रो. जे.पी. पचौरी,** (सदस्य) कुलपति, हिमालयन, विश्वविद्यालय, जीवनवाला, देहरादून
2. **प्रो. सी.सी.एस. ठाकुर,** (सदस्य) प्रो. (से.नि.), रानी दुर्गावती, विश्वविद्यालय, जबलपुर, मध्यप्रदेश
3. **प्रो. रवीन्द्र कुमार,** (सदस्य) इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली
4. **प्रो. रेनू प्रकाश,** (सदस्य) समन्वयक, समाजशास्त्र विभाग, उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
5. **डॉ. भावना डोभाल,** (मनोनीत सदस्य) असिस्टेंट प्रोफेसर (ए.सी), समाजशास्त्र विभाग, उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
6. **डॉ. गोपाल सिंह गौनिया,** (मनोनीत सदस्य) असिस्टेंट प्रोफेसर(ए.सी), समाजशास्त्र विभाग, उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक

प्रो. रेनू प्रकाश, उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	**इकाई संख्या**
प्रो इला शाह पूर्व अध्यक्ष समाजशास्त्र विभाग सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय, अल्मोड़ा	1,2, 14
प्रो कमरुद्दीन आलम एमबीपीजी कॉलेज हल्द्वानी	3,4
डॉ किशोर कुमार उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	5,6
प्रो रेनू प्रकाश उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	7
डॉ गोपाल सिंह गौनिया उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	8
श्रीमती शैलजा उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	9,10,11,12
डॉ ऋतंबरा उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	13

सम्पादक मण्डल

प्रो. रेनू प्रकाश	**डॉ. भावना डोभाल**
समन्वयक, उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	असिस्टेंट प्रोफेसर (ए.सी), समाजशास्त्र उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

आई: .एस.बी.एन.

कापीराइट :उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी , नैनीताल, 263139

प्रकाशक: उत्तराखण्ड़ मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल, 263139

नोट : इस पुस्तक की समस्त इकाइयों के लेखन तथा कॉपीराइट संबंधी किसी भी मामले के लिए संबंधित इकाई लेखक जिम्मेदार होगा। इस प्रकाशन का कोई भी अंश उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, की लिखित अनुमति के बिना मिमियोग्राफी चक्रमुद्रण द्वारा या किसी अन्य साधन से पुन; प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है। **मुद्रित प्रतियां -**

उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

षष्ठम सेमेस्टर(Six Semester) Core Paper BASO (N)302

4 Credits

खण्ड-1

भारतीय समाजशास्त्र का उदभव एवं विकास

Origin and Development of Indian Sociology

इकाई-1	भारत में समाजशास्त्रीय विचारधारा का विकास (Development of Sociological Thought in India)	1-14
इकाई-2	भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन के विविध परिप्रेक्ष्य (Various Perspectives of Sociological Studies in India)	15-27

खण्ड-2

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

(Historical Perspective)

इकाई-3	डी.डी. कोसाम्बी (D. D. Kosambi)	28-46
इकाई-4	रोमिला थापर Romila Thapar	47-63

खण्ड-3

भारतशास्त्र/ग्रंथ परिप्रेक्ष्य

(Indological/Textual Perspective)

इकाई-5	जी. एस. घुरये (G. S. Ghurye)	64-74
इकाई-6	इरावती कर्वे (Irawati karve)	75-86

खण्ड-4

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य

(Structural-Functional Perspective)

इकाई-7	एम एन श्रीनिवास (M. N. Srinivas)	87-104
इकाई-8	एस. सी. दुबे (S.C. Dubey)	105-121

खण्ड-5
मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य
(Marxist Perspective)

इकाई-9	डी. पी. मुखर्जी (D. P. Mukherjee)	122-131
इकाई-10	ए. आर . देसाई (A. R. Desai)	132-141

खण्ड-6
संस्तरणात्मक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य
(Stratification and Cultural Perspective)

इकाई-11	आंद्रे बेते (Andre Beteille)	142-152
इकाई-12	योगेन्द्र सिंह (Yogendra Singh)	153-165

खण्ड – 7
अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य
Subaltern Perspective

इकाई-13	बी. बार बम्बेडकर (B. R. Ambedkar)	166-184
इकाई-14	रणजीत गुहा (Ranjit Guha)	185-197

इकाई-1 भारत में भारतीय समाजशास्त्र का विकास

(Development of Indian Sociology in India)

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 समाजशास्त्र की संक्षिप्त पृष्ठभूमि

1.4 भारत में समाजशास्त्र का उद्भव

1.5 भारत में समाजशास्त्र का विकास

1.6 भारत में समाजशास्त्र की उपयोगिता

1.7 भारत में भारतीय समाजशास्त्र के पिछड़ेपन के कारण

1.8 सारांश

1.9 शब्दावली

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना-

मानव प्रकृति का सबसे अनोखा उपहार है और मानव का सबसे अनोखा महाकाव्य स्वयं 'समाज' है। हजारों साल से समाज की समस्याओं पर विचार व्यक्त किए जाते रहे हैं। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और अरस्तू का 'पॉलीटिक्स'इस बात को प्रमाणित करता है। आज भी जब हमें भारत एवं यूनान जैसे प्राचीन समाज के इतिहास को जानना होता है तो ऐसे में

ये पुस्तकें हमारे ज्ञान को विकसित करने का सम्बल होती हैं। इसी प्रकार दुनिया के अन्य प्राचीन समाजों के अध्ययन के लिए हमें उस समाज के प्राचीन ग्रंथों की सहायता लेना आवश्यक हो जाता है।

समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में सर्वाधिक आधुनिक विषय है और भारत के लिए तो यह और भी अधिक नवीन है। यह समाज की विभिन्न समस्याओं का एक विशेष परिप्रेक्ष्य में वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करता है जो इससे पूर्व किसी भी विषय में संभव नहीं हो पाया था इसलिए यह विषय और भी आधुनिक हो जाता है।

1.2 उद्देश्य-

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप समझ पायेंगेः-

- समाजशास्त्र की उत्पत्ति कब, कहां और किसके द्वारा हुई?
- भारत की भूमि पर समाजशास्त्र की नींव अति प्राचीन कैसे है?
- समाजशास्त्र का उद्भव भारत में कैसे हुआ?
- भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रक्रिया के तीन स्तर कौन से हैं?
- भारत में समाजशास्त्र की उपयोगिता क्या है?
- भारत में समाजशास्त्र के पिछड़ने का कारण क्या है?

1.3 समाजशास्त्र की संक्षिप्त पृष्ठभूमि-

भारत में समाजशास्त्र के उद्भव एवं विकास को जानने से पूर्व संक्षेप में समाजशास्त्र की उत्पत्ति और विकास का ज्ञान नितांत आवश्यक है। 'समाजशास्त्र' का प्रयोग अगस्त कोंट के मस्तिष्क की उपज है क्योंकि इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम इसी फ्रांसिसी दार्शनिक द्वारा उन्नींसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में किया गया। सन् 1838 में कोंट द्वारा एक ऐसे सामाजिक विज्ञान का प्रतिपादन किया गया जिसके द्वारा संपूर्ण समाज का सामान्य अध्ययन करना संभव हो सके। प्रारंभ में इस विज्ञान को सामाजिक भौतिकी (Social Physics) कहा गया, तत्पश्चात् इसका नाम 1838 में बदलकर 'समाजशास्त्र' (Sociology) रखा गया। इस प्रकार अगस्त कोंट द्वारा 19वीं शताब्दी में एक नवीन सामाजिक विज्ञान (Social Science) के रूप में 'समाजशास्त्र' की नींव रखी गयी। यही कारण है कि कोंट को 'समाजशास्त्र' का जनक (Father of Sociology) कहा गया। उन्होंने इस विषय की कल्पना फ्रांस की औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution) से उत्पन्न सामाजिक समस्याओं के अध्ययन करने के लिए किया था। समयानुसार धीरे-धीरे यह विषय जर्मनी, इंग्लैंड और यूरोप के अन्य देशों में फैलता गया और वर्तमान में सारी दुनिया में इसकी लोकप्रियता स्थापित हो गयी।

समाजशास्त्र के प्रारंभिक लेखकों में कोंट के अतिरिक्त हरबर्ट स्पेंसर, इस्माइल दुर्खीम तथा मैक्स वेबर का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। 'समाजशास्त्र' को परिभाषित करने वाले विद्वानों में मत-भिन्नता देखने को मिलती है क्योंकि इसकी एक सर्वमान्य परिभाषा देना चुनौतीपूर्ण है तथापि कहा जा सकता है कि 'समाजशास्त्र' संपूर्ण समाज का समग्र इकाई के रूप में अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसमें सामाजिक संबंधों का व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। सामाजिक संबंधों को ठीक से समझने की दृष्टि से सामाजिक क्रिया, सामाजिक अंतःक्रिया एवं सामाजिक मूल्यों के अध्ययन पर इस विज्ञान ने विशेष जोर दिया है।

1.4 भारत में समाजशास्त्र का उद्भव (Emergence of Sociology in India)

यह सत्य है कि भारत में 'समाजशास्त्र' एक विज्ञान के रूप में पश्चिमी देशों की ही देन है लेकिन भारत के समाजशास्त्रीय अध्ययन का इतिहास काफी पुराना है। अन्य देशों के समान ही भारत में भी कुछ ऐसे विचारक हुए हैं जिनकी कृतियों में प्राचीन सामाजिक-व्यवस्था की झलक स्पष्ट दिखायी देती है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' तथा मनु द्वारा रचित 'मनुस्मृति' आदि इसके उदाहरण हैं लेकिन इनका स्वरूप समाजशास्त्रीय नहीं है।

यूरोप में विशेषकर फ्रांस एवं इंग्लैंड में 'समाजशास्त्र' का उदय औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीति परिवर्तनों के परिणामस्वरूप हुआ लेकिन भारत में औद्योगिक क्रांति तुलनात्मक रूप से बहुत देर में प्रारंभ हुई और समाजशास्त्र की उत्पत्ति पहले। भारत में समाजशास्त्र की उत्पत्ति में उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप होने वाले पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण व आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

भारत में समाशास्त्र की नींव को अत्यंत प्राचीन मानने का कारण यहां के वेद, पुराण, उपनिषद्, धर्मसूत्र, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, स्मृतियां आदि इस बात के द्योतक हैं कि इन सभी ग्रंथों में प्राचीन भारत के लोगों के जीवन से संबंधित सभी विषयों पर विचार व्यक्त किए गए हैं जिसमें धर्म का प्रभाव धार्मिक पृष्ठभूमि को सुस्पष्ट रूप से देखा जा सकता है और इन्हीं की सहायता लेकर ठोस पृष्ठभूमि की रचना की जाती है और इसी के आधार भारत में व्याप्त संयुक्त परिवार, जाति-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था, कर्म, पुरुषार्थ, धर्म, ग्राम, पंचायत, ग्रामीण समुदाय आदि गंभीर विषयों पर वैज्ञानिक विश्लेषण व शोध कार्य किया जाता है।

1.5 भारत में समाजशास्त्र का विकास (Development of Sociology in India)

जैसा कि पूर्व में भी स्पष्ट किया जा चुका है कि यदि समाजशास्त्र का अर्थ किसी ऐसे व्यवस्थित ज्ञान से है जो सामाजिक जीवन, सामाजिक व्यवस्था, संगठन व सामाजिक संबंधों से संबोधित हो वो भारत में समाजशास्त्र की उत्पत्ति का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। भारत समाजशास्त्र की विकास यात्रा को तीन युगों में वर्गीकृत कर समझा जा सकता हैः-

1. प्राचीन भारत में समाजशास्त्र
2. भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग
3. स्वतंत्र भारत में समाजशास्त्र का व्यापक प्रसार युग

इन तीनों युगों का विस्तार से वर्गीकरण निम्नवत् है-

1. प्राचीन भारत में समाजशास्त्र- मनु, याज्ञवल्य, भृगु, चाणक्य आदि भारत के प्राचीन समाजशास्त्री हैं। इनके द्वारा समाज के विभिन्न पक्षों के संबंध में न केवल अपने विचारों की अभिव्यक्ति की बल्कि उन्हें एक ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत् कर समाजपयोगी बनाने का कार्य किया है। यहां के ग्रंथों में सामाजिक चिंतन का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है जिनकी सहायता लेकर आज भी उस ठोस भूमि की रचना की जाती है।

वेदों के अनुसार-'परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति नित्य है, अर्थात् यह न कभी पैदा हुई और न कभी इनका अंत होगा। ये सदा थे, सदा हैं और सदा रहेंगे। समस्त ब्रह्माण्ड में ईश्वर सर्वशक्तिमान, निर्विकार, अजन्मा, सर्वप्याप, सर्वज्ञ तथा सृष्टि का रक्षक है,' का उल्लेख मिलता है।

यहां की वर्ण-व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था व्यक्ति व समाज के बीच सुंदर समन्वय का एक उदाहरण है। इनका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था एवं संगठन में स्थायित्व प्रदान करने, आर्थिक व्यवस्था की सुदृढ़ता तथा समाज को समृद्ध बनाने के लिए उपयोगी रही। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में वर्ण विभाजन के प्रयोग, सेना में कार्य करना, जीवन और धन की रखा करना, ताकि संपूर्ण राज्य व्यवस्था कायम रह सके। कृषि-व्यापार, वाणिज्य तथा तीनों वर्णों की सेवा के प्रतिनिधित्व रूप में प्रस्तुत किया गया।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रमों को व्यक्तित्व विकास की चार सीढी के रूप में प्रस्तुत कर मानवीय जीवन की सहजता और भावात्मक वृत्तियों पर नियंत्रण लगाते हुए व्यक्ति को जीवन-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त करने को उद्यत रहने की सीख का वर्णन मिलता है। उस समय के चिंतक इस बात से परिचित थे कि केवल भौतिकता एवं व्यक्तिवादिता के आधार पर व्यक्ति के जीवन को पूर्णता प्रदान नहीं की जा सकती। अतः आध्यात्मवाद का सहारा लेते हुए धर्म के आधार पर व्यक्ति के आचरण को निश्चित व नियंत्रित करने का प्रयास किया।

वर्णों से जातियों की उत्पत्ति को स्पष्ट कर वैवाहिक नियमों, प्रतिबंधों, व्यवसाय की स्थिरता व संस्तरण के माध्यम से इसके महत्ता को सामाजिक सरंचना की उपयोगी इकाई रूप में प्रस्तुत किया गया। हिंदू समाज में आदर्श परिवारों के

प्रमुख आधारों का उल्लेख महाभारत आदि में मिलता है। यहां परिवार को समाज की अनिवार्य व महत्वपूर्ण संस्था के रूप में स्वीकार किया गया। महाभारत में वर्णों से जातियों की उत्पत्ति के संबंध में भी बतलाया गया है।

अतः कहा जा सकता है कि मनु की 'मनुस्मृति', शुक्राचार्य का 'नीतिशास्त्र, कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र', मुगलकालीन 'बाबरनामा', 'आइने-अकबरी' आदि ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय की सामाजिक-व्यवस्था का स्वरूप कैसा था। रीति-रिवाज, प्रथा-परंपराओं तथा आचरण संबंधी किस प्रकार के नियम स्थापित थे, इनके आधार पर ही उसस समय की सामाजिक व्यवस्था को समझने और उनमें समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को जानने में मदद मिलती है। देखा जाय तो मनुस्मृति में सामाजिक ज्ञान का भण्डार भरा पड़ा है। इसमें वर्ण, जाति, परिवार, विवाह, राज्य आदि की महत्ता को स्पष्ट करने के साथ ही इसमें गंभीरता से विचार किया गया है। मनु के व्यापक अध्ययन में यह भी स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति स्वयं में पूर्ण नहीं हो सकता बल्कि वह तो सामाजिक-व्यवस्था का एक अंग मात्र है। इसी आधार पर वर्तमान समाजशास्त्रियों द्वारा समाज की सावयवी विचारधारा का प्रतिपादन किया।

प्राचीन ग्रंथों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने की दिशा में प्रोफेसर विनय कुमार सरकार, प्रो0 बृजेन्दनाथ, डॉ0 भगवान दास, प्रो0 केवल मोतवानी आदि विद्वानों का नाम अग्रणीय है। अतः स्पष्ट है कि भारत में वैदिक काल से ही समाजशास्त्र के विकास की परंपरा प्रारंभ हो चुकी थी। यद्यपि मध्यकाल में यहां सामाजिक व्यवस्थाओं के अध्ययन पर ध्यान नहीं दिया गया।

2-भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग- भारत के लिए समाजशास्त्र को प्राचीन कहे जाने के पश्चात भी इसे एक नवीन विज्ञान के व्यवस्थित रूप में प्रसारित होने का श्रेय यूरोप में 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जाता है लेकिन भारत में 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भी इसका विकास न हो पाया। माना जाता है कि भारत में तब तक कोई ऐसा विज्ञान नहीं था जो समाज का संपूर्णता से अध्ययन कर सके। जब पाश्चात्य देशों में इसके विकास की प्रक्रिया तीव्र गति में भी तब भारतीय विद्वानों का ध्यान भी भारत में समाजशास्त्र को एक नवीन विषय के रूप में विकसित करने की और आकर्षित हुआ और इसके लिए अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते हुए इसको विकसित करने का प्रयास सफल हुआ।

भारत में समाजशास्त्र की वास्तविक शुरूआत 'अर्थशास्त्र' विषय के साथ ऐच्छिक विषय के रूप में बम्बई विश्वविद्यालय में 1914 थी। यही स्थिति बी0 एन0 सील के प्रयासों से 1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में भी रही। 1919 में बम्बई में नागरिकशास्त्र के साथ समाजशास्त्र का एक संयुक्त विभाग स्थापित किया गया और पैट्रिक गिड्स इसके प्रथम अध्यक्ष बने। बाद में इस विभाग से जी0 एस0 घुर्ये एवं के0 एम0 कपाडिया जैसे विद्वान जुड़े। ये मूल रूप से मानवशास्त्री थे।

1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रो0 राधाकमल मुकर्जी की अध्यक्षता के साथ प्रारंभ हुआ और कुछ ही दिनों बाद जैसे प्रखर मानवशास्त्र ने अध्यापन कार्य प्रारंभ किया। पुणे के विश्वविद्यालय में इस विषय की स्थापना मानवशास्त्र के

साथ 1938 में की गयी जिसकी प्रथम अध्यक्षा मानवशास्त्री इरावती कर्वे थी। 1947 से पूर्व तक देश में समाजशास्त्र के विकास की गति धीमी रही। किंतु भारत में समाजशास्त्र की नींव अवश्य पड़ चुकी थे।

3-स्वतंत्र भारत में समाजशास्त्र का व्यापक प्रसार युग- भारत में समाजशास्त्र के व्यापक प्रसार का युग स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात प्रारंभ हुआ जब एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र का अध्ययन एक के बाद दूसरे विश्वविद्यालयों में फैलता गया। आज भारत के अधिकांश विश्वविद्यालयों में स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में इस विषय को पढ़ाया जाता है। इतना ही नहीं अनेक शासकीय-अशासकीय महाविद्यालयों के साथ-साथ देश के तकनीकी एवं चिकित्सा संस्थानों, सामाजिक शोध संस्थानों, एलएलबी आदि में भी समाजशास्त्र विषय पढाया जाता है। वर्तमान में मुंबई, कोलकाता, लखनऊ, मैसूर, आन्ध्रप्रदेश, पूना, गुजरात, पटना, भागलपुर, गोरखपुर, दिल्ली, जबलपुर, पंजाब, नागपुर, चंडीगढ़, कुरूक्षेत्र, राजस्थान, जोधपुर, उदयपुर, इंदौर या ये कहा जाए कि सभी विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विषय स्थापित जो चुका है।

अनेक कृषि विश्वविद्यालयों एवं संस्थानों में भी इसको योग्य स्थान प्राप्त हो चुका है जहां एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में इसकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। विभिन्न प्रतियोगी परीक्षाओं में विद्यार्थी समाजशास्त्र को प्रमुखता दे रहे हैं। आज इसकी विभिन्न शाखाओं में ग्रामीण समाजशास्त्र, नगरीय समाजशास्त्र, अपराधशास्त्र, ज्ञान का, मूल्यों का, पर्यावरण का, स्वास्थ्य का, चिकित्सा का समाजशास्त्र जैसे विविध रूपों में अध्ययन-अध्यापन कार्य हो रहा है जो समाज व देश को एक नवीन दिशा प्रदान करता है।

जिन भारतीय समाजशास्त्रियों ने भारत में समाजशास्त्र के संवर्द्धन व विकास में अपना अमूल्य योगदान दिया है उनमें प्रो0 एम0 एन0 श्रीनिवास, प्रो0 ओयाई बी डामले, प्रो0 ए0 आर0 देसाई, प्रो0 विक्टर डिसूजा, प्रो0 एस0 सी0 दूबे, प्रो0 एम0 एस0 गोरे, प्रो0 टी0 एन0 मदान, प्रो0 रामकृष्ण मुकर्जी, प्रो0 पी0 एन0 मुकर्जी, प्रो0 टी0 ओम्मेन, प्रो0 वी0 के0 आर0 वी0 राव, प्रो0 सच्चिदानन्द, प्रो0 योगेंद्र सिंह, प्रो0 सुरजीत सिन्हा, प्रो0 टी0 के0 एन0 यूनियान, प्रो0 कैलाश नाथ शर्मा, प्रो0 सत्येंद्र त्रिपाठी, प्रो0 नीरा देसाई, प्रो0 सी पार्वाथम्भा, सूमा चिटनिस, रोमिला थापर, राना नायडू तथा प्रमिला कपूर आदि प्रोफेसरों के नाम उल्लेखनीय हैं।

1.6 भारत में समाजशास्त्र की उपयोगिता-

प्रत्येक विषय की तरह समाजशास्त्र का अपना महत्व व उपयोगिता है, विशेषकर भारत के संदर्भ में इसकी उपयोगिता कुछ और भी ज्यादा है। भारत एक विभिन्नतायुक्त समाज है। भौगोलिक बनावट, जनसंख्या, प्रजाति, धर्म, इतिहास, रानीति, भाषा, संस्कृति एवं समाज व्यवस्था की दृष्टि से भारत के विभिन्न भागों में ये विषमता परिलक्षित होती है।

वर्तमान परिवर्तित दौर में कहीं-न-कहीं आज भी परंपरागत मूल्यों से भारतीयों का नाता बना हुआ है और ग्रामीण क्षेत्रों में यह नाता काफी संरक्षित है। जबकि शहरी समाजों में परंपरागत मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों पर विश्वास को महत्व

दिया जा रहा है। ऐसी स्थिति में इन समस्याओं को समझने, आधुनिक व परंपरागत मूल्यांे में समन्वय बनाने आदि के लिए समाजशास्त्र बहुत उपयोगी है।

भारत में व्याप्त जातिवाद, क्षेत्रवाद, गरीबी, भ्रष्टाचार, युवा असंतोष, बढ़ते नशे का प्रचलन, सामाजिक असमानता, लिंगभेद की मानसिकता, स्त्रियों की निम्न स्थिति, शोषण जैसी गंभीर समस्याओं के निदान हेतु भारतीय समाज का गहराई से अध्ययन कर निराकरण या समाधान का कार्य भी समाजशास्त्र के माध्यम से किया जा सकता है और इसके लिए भारतीय समाजशास्त्रियों की भूमिका अहम् होनी चाहिए।

संक्षेप में कहा जा सकता है भारत में समाजशास्त्र निम्नलिखित क्षेत्रों में उपयोगी हो सकता है-

- भारत में सामाजिक समस्याओं के निराकरण में सहायक।
- राष्ट्रीय एकता स्थापित करने में सहायक।
- नयी परिस्थितियों में अभियोजन (Adjustment) करने में सहायक।
- ग्रामीण उत्थान में सहायक।
- जनजातियों की समस्या को दूर करने तथा उनके लिए निर्मित कल्याणकारी योजनाओं के लिए सहायक।
- जनसंख्या संबंधी समस्याओं को समझने तथा उनके निराकरण में सहायक।
- आर्थिक विकास के कार्यान्वयन में सहायक।

1.7 भारत में भारतीय समाजशास्त्र के पिछड़ेपन के कारण

यह सर्वविदित है कि भारत में पाश्चात्य देशों की तुलना में समाजशास्त्र का विकास एक क्रमबद्ध विज्ञान के रूप में काफी देरी से हुआ। विद्वानों का मानना है कि भारत में औद्योगिक क्रांति भी काफी देरी से प्रारंभ हुई। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों को भी विद्वानों द्वारा निम्नवत् उल्लेखित किया गया हैः-

- भारत में मानवशास्त्रियों का प्रभाव कुछ ज्यादा ही है। एम0 एन0 श्रीनिवास, आर0 के0 मुखर्जी, एस0 सी0 दूबे, डी0 एन0 मदान, आंद्रे बेते, पी0 एस0 उबेराय, आर0 के0 जैन, सच्चिदानन्द एवं उनसे जुड़े पेशेवर मानवशास्त्रियों ने समाजशास्त्र के प्रचार-प्रसार पर काफी अच्छी पकड़ बनाये रखी। यही कारण है कि उनकी कृतियों में समाजशास्त्र कम व मानवशास्त्र अधिक झलकता है।
- भारतीय समाजशास्त्र के पिछड़ेपन का कारण यह भी रहा कि भारतीय विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र के साथ प्रारंभ से ही अनुसंधान प्रविधियां व सांख्यिकीय पढ़ाई नहीं हुई।

- राष्ट्रीय स्तर पर समाजशास्त्र पर अधिकतर ऐसे ही लोगों का प्रभुत्व पाया गया है जो सांख्यिकीय एवं संख्यात्मक विश्लेषण से बहुत दूर भागते हैं। अपनी इस कमजोरी के लिए भारतीय समाजशास्त्री अपने अध्ययनों में मुख्य रूप से मानवशास्त्री परिप्रेक्ष्य की दलील देते हैं।
- विद्वानों का मानना है कि भारतीय समाजशास्त्र में लोग जनसंख्या एवं नगरीय समस्याओं की वास्तविकता से दूर भागते हैं जबकि भारत के समक्ष जनसंख्या विस्फोट की संख्या दिन-प्रतिदिन विकराल होती जा रही है।
- भारतीय समाजशास्त्र कुछ वैसे भी लोग हैं जो पाश्चात्य समाजशास्त्रीय सिद्धांतों की जानकारी मात्र को ही समस्त समाजशास्त्र की जानकारी समझते हैं। पाश्चात्य देशों के विश्वविद्यालयों की तुलना में समाजशास्त्र में सामाजिक सर्वेक्षण का प्रयोग भी बहुत कम हुआ है।

उपरोक्त कमियों के कारण भारत में भारतीय समाजशास्त्र को पाश्चात्य देशों की तुलना में पिछड़ा माना जाता है।

1.8 सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आप यह जान चुके हैं कि भारत में समाजशास्त्र नाम नया है। किन्तु इसकी नींव अत्यंत पुरानी है। मनु, याज्ञवल्य, भृगु, चाणक्य आदि प्राचीन समाजशास्त्रियों के ग्रंथों में समाज के विभिन्न पक्षों का उल्लेख मिलता है।

इन ग्रंथों, स्मृतियों, वेद, उपनिषदों, धर्मसूत्र, रामायण, महाभारत, गीता, पुराण सभी में सामाजिक चिंतन का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। जिनके आधार पर संयुक्त परिवार, वर्ण, जाति, धर्म, कर्म, पुरूषार्थ, आश्रम, विवाह, परंपरा, मूल्य, प्रथाओं आदि गंभीर विषयों पर शोध कार्य व वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाता है लेकिन यह भी सत्य है कि एक नवीन, क्रमबद्ध वैज्ञानिक अध्ययन के रूप में भारत में इसका प्रचार-प्रसार देरी से हुआ और यह विभिन्न कारणों से पाश्चात्य देशों की तुलना में पिछड़ा हुआ है।

1.9 शब्दावली

भारत में समाजशास्त्र-भारत में समाजशास्त्र एक विज्ञान के रूप में पश्चिमी देशों से ही आया। अन्य देशों के समान ही भारत में भी कुछ ऐसे विचारक हुए जिनकी कृतियों में हमें प्राचीन सामाजिक व्यवस्था की झलक देखने को मिलती है।

- भारत में समाजशास्त्र की उत्पत्ति उपनिवेशवाद के परिणामस्वरूप हुई।
- एम0 एन0 श्रीनिवास ने अपने एक लेख में 1773 से 1900 तक के काल को भारतीय मानवशास्त्र के साथ-साथ समाजशास्त्र का प्रारंभिक काल माना है।

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर-निम्नलिखित प्रश्नों के आगे सत्य/असत्य लिखिए।

1. प्राचीन भारत में सामाजिक संगठन का आधार वर्ण-व्यवस्था थी- सत्य/असत्य

2. 'कास्ट, क्लास एवं आक्यूपेशन' पुस्तक के लेखक डी0 एन0 मजूमदार हैं?- सत्य/असत्य

3. प्रो0 गिड्डस मूल रूप से समाजशास्त्री थे? - सत्य/असत्य

निम्नलिखित में से सही उत्तरों का चयन कीजिए-

4. मुंबई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र की वास्तविक शुरूआत किस वर्ष हुई?

(A) 1914 (B) 1919 (C) 1920 (D)1921

5. प्रो0 राधाकमल मुकर्जी किस विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के अध्यक्ष नियुक्त हुए?

(A) लखनऊ (B) 1951 (C) 1952 (D) 1953

6. निम्न में से कौन एक भारतीय समाजशास्त्री नहीं हैं?

(A) एस सी दूबे (B) एम0एन0श्रीनिवास (C) जी0एस0घुर्ये (D) जिन्सबर्ग

7. सही को सुमेलित कीजिए-

1. प्रो0 योगेन्द्र सिंह- (A)मैरिज एंड फेमिली इन इण्डिया

2. एस0सी0 दुबे. (B) सोशल चेंज इन मार्डन इण्डिया

3. के0 एम0 कपाडिया- (C) इण्डियन विलेज

4. एम0 एन0 श्रीनिवास- (D) मार्डनाइजेशन आॅफ इण्डिया डिशन

अभ्यास प्रश्नों का उत्तर-

(1) सही (2) असत्य (3) असत्य (4) 1914 (5) लखनऊ (6) 1952 (7) जिन्सबर्ग (8) 1 का (D) 2 का (C), 3 का (B), 4 का(A)

1.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्रो0 रवींद्रनाथ मुकर्जी, समकालीन उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त-2007
2. जे0 पी0 सिंह- समाजशास्त्र अवधारणाएं एवं सिद्धान्त-2002
3. एस0 सी0 दूबे- भारतीय गाँव-1955
4. मैकाइवर एवं पेज, समाज, अनुवादक- जी0विश्वेश्वरय्या रामपाल सिंह गौड़-1972
5. आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, एम0एन श्रीनिवास-1966

1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. समाजशास्त्र-श्रीवास्तव एवं ताम्रकर
2. उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त-दोषी एवं एम0 एस0 त्रिवेदी
3. समाजशास्त्र-एस0 के0 ओझा
4. मानव समाज-हितेन्द्र प्रताप सिंह

1.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारत में भारतीय समाजशास्त्र के उदय पर एक निबन्ध लिखिए।
2. भारत में समाजशास्त्र एवं विकास के तीन स्तरों को स्पष्ट कीजिए
3. 'भारत में समाजशास्त्र नया है पर भारत की भूमि पर इसकी नींव अति प्राचीन है', स्पष्ट कीजिए।
4. भारत में समाजशास्त्र की उपयोगिता व पिछड़ेपन के कारणों को स्पष्ट कीजिए।

इकाई-02

भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन के विभिन्न परिप्रेक्ष्य

(Various Perspectives of Sociological Studies in India)

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना-

2.2 उद्देश्य

2.3 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का अर्थ एवं परिभाषा

2.4 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की विशेषताएं

2.5 भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन के विभिन्न परिप्रेक्ष्य

2.6 दर्शनशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

2.7 भारतीय विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

2.8 सामाजिक मानवशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

2.9 पश्चिमी अनुभाविक या अमेरिकन परिप्रेक्ष्य

2.10 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

2.11 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य

2.12 मार्क्सवादी अथवा संघर्ष परिप्रेक्ष्य

2.13 संस्तरणात्मक परिप्रेक्ष्य

2.14 सभ्यता परिप्रेक्ष्य

2.15 अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य

2.16 सारांश

2.17 अभ्यास प्रश्न

2.18 शब्दावली

2.19 संदर्भ ग्रंथ सूची

2.20 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.1 प्रस्तावना-

भारत का एक लम्बा और विचित्र इतिहास रहा है। इसका विकास राजतंत्र, सामन्तवाद तथा उपनिवेश के बाद प्रजातंत्र के रूप में हुआ। इसकी सभ्यता न केवल गहरी है बल्कि ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक मूल्यों, परम्पराओं और अनेक वैचारिकियों को प्रोत्साहन मिलता है। भारत में समाजशास्त्र का विश्लेषण इसी सामाजिक भूमि के संदर्भ में किया जाता है।

भारत के सामाजिक चिन्तकों ने यथार्थता, वास्तविकता व सत्यता को आज के परिप्रेक्ष्य में समझने में काफी विश्लेषण किया है और भारतीय समाज को समझने का अथक् प्रयास किया है। सामाजिक विचारक अपने समाज की ज्वलन्त समस्याओं के प्रति विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हैं तथा उपाय के समाधानों को खोजते हैं और समय-समय पर समस्याओं के निदान हेतु सुझाव प्रस्तुत् करते हैं।

भारत ने उपनिवेशवादी शासन में शोषणकारी प्रवृत्ति को देखा है, अर्थात् औपनिवेशिक काल भारत में अंग्रेजों द्वारा किए जाने वाले शोषण एवं सत्तावादी मानसिकता का गवाह है। जिसका भारतीयों पर गहरा प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि वर्तमान समाज में चापलूसी लोगों की मानसिकता का मुहावरा बना हुआ है। भारत में व्याप्त विविधता तथा उच्च जातियों और अधीनस्थों में पाये जाने वाले भेदभाव का अंग्रेजों ने खूब लाभ उठाया और स्वयं की शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ करने का साहस उस समय किस चिन्तक में नहीं था इसलिए भारतीय समाज को एक ऐसे गतिहीन समाज के रूप में चित्रित किया गया जो जाति, संस्तरण, ऊँच-नीच द्वारा पूरी तरह से विखण्डित था।

भारत के लोगों के साथ होने वाले अमानवीय व्यवहार को देखकर ही गांधी के अहिंसा, असहयोग, सत्याग्रह जैसे नये मूल्य स्थापित हुए। देशी रियासतों में सामन्तवाद था। बहुत से

क्षेत्रों में जमींदारी प्रथा लागू थी, लोगों के मन-मस्तिष्क में चाटुकारिता घर कर गयी थी। इन सब की मुक्ति के लिए ही सामाजिक चिन्तकों का प्रादुर्भाव हुआ।

चैरीचैरा कांड, जलियावाला बाग, अमीर-गरीबी, शहरी-ग्रामीण जनजीवन के बीच भेद आदि से मुक्ति के लिए चिन्तकों ने अध्ययन शुरू किए। अतः स्पष्ट है कि भारतीय समाज बहुत विस्तृत, जटिल व विविधतापूर्ण है जिसे किसी एक

परिप्रेक्ष्य से समझ पाना अत्यंत कठिन है इसलिए समाज को समझने के लिए कई परिपे्रक्ष्यों का सहारा लेना पड़ा। इन परिपे्रक्ष्यों को समझने से पूर्व इन समाजशास्त्रीय परिपे्रक्ष्यों का अर्थ, परिभाषा आदि को समझना आवश्यक है।

2.2 उद्देश्य-

प्रस्तुत अध्ययन के माध्यम से विद्यार्थियों को ज्ञान होगा कि-

1. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य क्या है?
2. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की प्रमुख विशेषताएं कौन सी हैं?
3. भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन के विभिन्न परिप्रेक्ष्य कौन-कौन से हैं?
4. इन परिपे्रक्ष्यों का संक्षिप्त परिचय।
5. कौन से विद्वान किस परिप्रेक्ष्य से सम्बद्ध है और उन्होंने अपने परिप्रेक्ष्य को किस अध्ययन हेतु प्रयोग किया है?

2.3 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का अर्थ एवं परिभाषा-

किसी भी विषय की अपनी एक विषयवस्तु होती है जिसका अध्ययन करने के लिए उस विषय में विशिष्ट परिप्रेक्ष्य, संदृष्टि, उपागम या दृष्टिकोण होते हैं। 'परिप्रेक्ष्य' का तात्पर्य एक ऐसे विशिष्ट नजरिये (तरीके) से है जिसके द्वारा विद्वानों द्वारा किये गये अध्ययन को समन्वित व सुव्यवस्थित किया जाता है। यह किसी भी समस्या के अध्ययन के लिए कुछ सैद्धान्तिक कल्पनाओं का सहारा लेता है जिससे उस समस्या के सम्पूर्ण व्यवहार अथवा उसकी विशेषताओं को समझा जा सके। परिप्रेक्ष्य के आधार पर ही समाजशास्त्री सामाजिक यथार्थता में पायी जाने वाली नियमबद्धता अथवा नियमबद्धता की व्याख्या करता है।

समाजशास्त्र के शब्दकोष के अनुसार 'परिप्रेक्ष्य' का तात्पर्य मूल्यों, विश्वासों, मनोवृत्तियों एवं अर्थों के लिए प्रयुक्त शब्द जो कि व्यक्ति को परिस्थिति को देखने हेतु एक रूपरेखा एवं दृष्टि प्रदान करता है।''

फैडरिको **(Federico)** के अनुसार-''समाजशास्त्री का व्यक्तियों के अध्ययन का परिप्रेक्ष्य इस बात पर आधारित है कि व्यक्ति को समाज कसे अलग करना असम्भव है। विभिन्न अंशों में सभी व्यक्ति एक-दूसरे पर आश्रित हैं। समाजशास्त्रियों का मानना है कि समूह व उनके सदस्यों को समझने हेतु अन्तक्रिया के ताने-बाने को समझना आवश्यक है।

बेट्स **(Bates)** के अनुसार-''समाजशास्त्री विशेषतः उस व्यवहार में रूचि रखता है जो व्यक्तियों को परस्पर जोड़ता है। ऐसा व्यवहार कैसे विकसित व संरचित होता है और कौन सी शक्तियां व्यवहारात्मक परिवर्तन को प्रोत्साहित करती हैं या बाधा डालती है? समाजशास्त्री की अध्ययन वस्तु में यह सब आ जाता है, यही परिप्रेक्ष्य है।

2.4 समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की विशेषताएं- समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य किसी परिस्थिति, प्रक्रिया या इकाई के व्यवहार के बारे में अनुभाविक सिद्धान्त बनाने के लिए सैद्धान्तिक कल्पनाएं हैं जो अनुसंधानकर्ता को विशिष्ट नजरिया प्रदान करता है तथा अध्ययन के समय उनका मार्गदर्शन करता है। इसकी विशेषताओं को निम्नवत् समझा जा सकता हैः-

1. समन्वयात्मक प्रकृति (Synthetic Nature)
2. वैज्ञानिक प्रकृति (Scientific nature)
3. वस्तुनिष्ठता(Objectivity)
4. व्यापकता एवं खुलापन (Coperehensiveness and openness)
5. विश्लेषणात्मक प्रकृति (Anylylital nature)
6. कार्यकारण संबंधों पर बल (Emphasis on cause effect relationship)

उपरोक्त विशेषताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि 'समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य' समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों से एक ओर तो अलग करते हैं तथा दूसरी ओर समाजशास्त्र के इन परिपे्रक्ष्यों को राजनीतिशास्त्र, मानवशास्त्र, मनोविज्ञान तथा इतिहास में अपनाए जाने के कारण विभिन्न सामाजिक विज्ञानों में अन्तर विषयक (Inter Disciplinary) परिप्रेक्ष्य का भी विकास हुआ है और विभिन्न सामाजिक विज्ञान परस्पर नजदीक आये हैं। यही कारण है भारतीय समाजशास्त्र को समझने के लिए भी कई समाज वैज्ञानिकों के परिपे्रक्ष्यों को समझना पड़ता है ताकि भारतीय समाज की संपूर्णता को समझने में सहायता प्राप्त हो सके।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को जानने के पश्चात भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन के विभिन्न परिपे्रक्ष्यों को समझना आवश्यक है।

2.5 भारत में समाजशास्त्रीय अध्ययन के विभिन्न परिप्रेक्ष्य (Various Perspectives of Sociological Study in India)-

भारत के समाजाशास्त्रीय विश्लेषकों के प्रमुख परिपे्रक्ष्यों में संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक या भारतशास्त्र, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक, मार्क्सवादी तथा नृजातीय उपागमों को विशेष स्थान प्राप्त हैं। ये भारतीय समाज की समस्याओं, जटिलताओं जैसे-जाति, धर्म,य वर्ग तथा सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करने के लिए विकसित हुए हैं। ये परिप्रेक्ष्य सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक विविधताओं तथा आर्थिक-राजनीतिक गतिशीलता के परस्पर संबंधों को समझने में सहायता करता है।

प्रो0 इम्तियाज अहमद (1985द्ध ने अपने आलेख Four Trends in Indian Sociology में भारतीय समाजशास्त्र की चार प्रमुख प्रवृत्तियों या परिपे्रक्ष्यों का उल्लेख किया है जिनमें (1) दर्शनशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Philosophical Perspective) (2) भारतीय विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Indological Perspective) 3) सामाजिक-मानवशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Social Anthropological Perspective) (4) पश्चिम अनुभाविक परिप्रेक्ष्य (Western Emprical Perspective) है । टी0 बी0 बाटोमोर (T.B.Boltomere) 1962, टी0 एन0 मदान 1965, आर0 एन0 सक्सेना 1962, ए0 के0 सरन 1958 तथा हंस नागपाल 1985 द्वारा भी इन परिपे्रक्ष्यों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य, मार्क्सवादी अथवा संघर्ष परिप्रेक्ष्य , भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, सभ्यता परिप्रेक्ष्य, दलितोद्धार परिप्रेक्ष्य आदि प्रमुख है।

भारतीय समाज के अध्ययन में विभिन्न परिपे्रक्ष्यों को अपनाया गया है। प्रत्येक परिप्रेक्ष्य भारतीय समाज को समझने मे अलग-अलग नजरिया रखता है। अतः सभी परिपे्रक्ष्यों का संक्षिप्त परिचय निम्नवत् स्पष्ट किया जा रहा है।

2.6 दर्शनशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Philosophical Perspective)-

अनेक समाजशास्त्रियों ने प्रत्यक्ष रूप से तार्किक एवं पद्धतिशास्त्रीय समस्याओं के अध्ययन में विशेष रूचि दिखलायी। ये सभी डी0 पी0 मुकर्जी से अधिक प्रभावित थे। इनके अध्ययन दर्शनशास्त्रीय दृष्टिकोणों पर आधारित हैं तथा भारतीय इतिहास व परम्परागत भारतीय चिन्तन को महत्व प्रदान करते हैं। ये समाजशास्त्री समाजशास्त्रीय प्रत्यक्षवाद (Sociological Posivitism) के कुछ आलोचक हैं। पश्चिमी समाजशास्त्र व दर्शनशास्त्र से जुड़े रहने वाले ये

विद्वान परम्परागत भारतीय दर्शन तथा चिन्तन से विशेष प्रभावित हैं और सामाजिक व्यवस्था के नैतिक, धार्मिक नियमों की पुनस्थापना में प्रयासरत् हैं।

2.7 भारतीय विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Indological Perspective)-

. इस परिप्रेक्ष्य के समर्थक भारतीय समाज को भारतीय धर्मग्रंथों तथा ऐतिहासिक प्रलेखों के आधार पर समझने का प्रयास करते हैं। उनका मानना है कि आधुनिक भारतीय संस्थाओं की व्यवस्था प्राचीन ग्रन्थों से प्राप्त तथ्यों द्वारा ही संभव है और ग्रन्थ जितने प्राचीन होते हैं-उनकी प्रमाणिकता उतनी ही अधिक होती है। यह एक प्रकार से पुस्तकीय (Textural) परिप्रेक्ष्य है जिसमें किसी भी प्रकार के क्षेत्र कार्य को अस्वीकार किया जाता है। इस परिप्रेक्ष्य के माध्यम से भारतीय समाज का जो चित्र प्रस्तुत् किया जाता है वह आदर्श चित्र है। इसके विषय में विद्वानों के में मतैक्य का अभाव पाया जाता है।

प्रो0 ए0 आर0 पिल्लै का जाति अध्ययन, पी0 एच0 प्रभु का 'हिन्दू सामाजिक संगठन', के0 एम0 कपाड़िया का हिन्दू नातेदारी विश्लेषण, इरावती कर्वे का हिन्दू समाज का विवेचन, जी0 एस0 घुर्ये जाति, वर्ग, व्यवसाय, नातेदारी, ज्ञान एवं मूल्यों तथा भारतीय नगरों जैसे अखिल भारतीय विषयों पर अध्ययन हेतु इसी परिप्रेक्ष्य को अपनाया है। लुईस ड्यूमों की सुप्रसिद्ध कृति 'होमो हैरारकिक्स' (Homo Hierarchicus) जाति व्यवस्था का विश्लेषण इसी परिप्रेक्ष्य के आधार पर हुआ है। जी0 एस0 घुर्ये इस परिप्रेक्ष्य के प्रमुख प्रवर्तक के रूप में जाने जाते हैं।

2.8 सामाजिक मानवशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (Anthropological Perspective)-

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारत में सामाजिक मानवशास्त्र का तीव्रता से विकास हुआ था तथा इसका समाजशास्त्र के विकास पर काफी बौद्धिक प्रभाव रहा। इस परिप्रेक्ष्य के समर्थक धार्मिक व कानूनी साहित्य के आधार पर भारतीय समाज को समझने वालों के कटु आलोचक थे। इनकी प्रमुखता क्षेत्र अध्ययनों (Field Studies) पर थी। इनके द्वारा किये गये अध्ययनों से कई पुस्तक दृष्टि (Book View) पर आधारित सामाजिक संस्थाओं के बारे में अनेक गलत धारणाएं समाप्त हो गयी। मानवशास्त्रीय अध्ययनों में सामाजिक संरचना के विभिन्न पक्षों का क्षेत्रीय अध्ययन किया जाता है। प्रो के0 एस0 माथुर तथा टी0 एन0 मदान इस परिप्रेक्ष्य के सबल समर्थकों के रूप में जाने जाते हैं।

2.9 पश्चिमी अनुभाविक या अमेरिकन परिप्रेक्ष्य (Western Emprical or American Sociological Perspective)-

यह परिप्रेक्ष्य उन भारतीय समाजशास्त्रियों द्वारा अपनाया गया जो पश्चिम विशेषतः अमेरिकी समाजशास्त्र से अत्यधिक प्रभावित हुए। ये विद्वान पश्चिमी अवधारणाओं, पद्धतियों व सिद्धान्तों की सहायता से भारतीय समाज के अध्ययन पर बल देते हैं। इनके विचार यद्यपि अत्यधिक संगठित नहीं हैं तथापि पश्चिमी अवधारणाओं व सिद्धान्तों को भारतीय समाज को समझने में उपयुक्त मानते हैं। प्रो0 वाई0 बी0 ढामले (Y.B.Damle) आदि विद्वान इस परिप्रेक्ष्य को अपना समर्थन देते हैं।

2.10 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य (Historical Perspective)-

. इतिहासकार, दार्शनिक, समाज मनोवैज्ञानिक, साहित्यकार सभी के द्वारा इतिहास का उपयोग सामाजिक व्यवस्था को जीवन्त, परिवर्तनशील इकाई के रूप में देखते हैं और उसी आधार पर अपने लेखन कार्य को गति देते हैं। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। सामाजिक संरचना, प्रकार्यात्मक क्षमता में भी परिवर्तन होता रहता है। समूह, सामाजिक संस्थाएं तथा व्यक्तित्व भी समय-समय पर बदलते रहते हैं। इस परितर्वन की वास्तविकता को जानने के लिए समाजशास्त्रियों द्वारा ऐतिहासिक तथ्यों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्रीय अध्ययनों के लिए यह परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्र की समन्वयता का सूचक है।

मानवीय समाज को समझने के लिए इतिहास का प्रयोग द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के माध्यम से भी किया गया है। यह विश्वास किया जाता है कि समाज की भौतिकवादी संरचना, समाज के परिवर्तन, उद्विकास तथा विकास में सहायक हैं। इतिहास के आधार पर ही मार्क्स ने इतिहास के आधार पर ही मार्क्स ने सामाजिक द्वन्द्वात्मकता का विश्लेषण किया है। साम्यवाद, दासता, सामन्तवाद, पूंजीवाद, समाजवाद आदि सभी सोपान ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के परिणाम हैं। सामाजिक विकास को समझने के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यह साधन समाजशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण बन गया है।

वेबर ने भी अपनी ऐतिहासिक व्याख्याओं को पूंजीवाद का जन्म, नौकरशाही और विश्वधर्मों पर पड़ने वाले आर्थिक प्रभावों के आधार पर दर्शाने का प्रयास किया है।

पी0 पी0 यंग ने अपनी पुस्तक 'सोशल सर्वे एण्ड रिसर्च(Social Survey and Research-1973) में ऐतिहासिक सूचनाओं को प्राप्त करने के समाज वैज्ञानिकों द्वारा तीन प्रकार के स्रोतों का वर्णन किया है-

1. दस्तावेजों या तथ्य जो इतिहासकारों के पास स्वयं से उपलब्ध हैं।
2. सांस्कृतिक तथा विश्लेषणात्मक इतिहास।
3. स्वयं अवलोकित तथा अनुभव।

ऐतिहासिक स्रोतों के उपरोक्त तथ्यों को कब, कहां और किन परिस्थितियों में प्रयोग किया जायेगा। यह शोध या लेखन कार्य करने वालों पर निर्भर करता है। डी0 डी0 कोसाम्बी व रोमिला थापर इस परिप्रेक्ष्य के अध्ययन के लिए जाने जाते हैं।

2.11 संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य (Structural Functional Perspective)-

यह परिप्रेक्ष्य संरचना एवं प्रकार्य की अवधारणा पर आधारित है। इसमें अध्ययन समग्र की इकाईयों एवं उनके परस्पर संबंधों (संरचना) के साथ-साथ प्रत्येक इकाई द्वारा समग्र को दिए जाने वाले योगदान का विश्लेषण किया जाता है। यह क्षेत्राधारित अध्ययन पर बल देने वाला परिप्रेक्ष्य है। यह परिप्रेक्ष्य इकाईयों में पाए जाने वाले सन्तुलन एवं एकीकरण को महत्व देता है।

भारत में ग्रामीण समाज का अध्ययन करने वाले अधिकांश विद्वानों ने इसी परिप्रेक्ष्य को अपनाया है। जो लोग इस उपागम का प्रयोग करते हैं उनका उद्देश्य समाज में व्यवस्था तथा उससे उत्पन्न होने वाले प्रतिमानों का अध्ययन करना है। उनके सैद्धान्तिक तथा अनुभाविक विश्लेषण सामान्यतया इस अनुमान पर आधारित हैं कि समाज में एकता और स्थायित्व विद्यमान हैं। सामाजिक प्रबन्ध और संस्कृति में माध्यम से धरोहर के रूप में पीढ़ी-दर-पीढी हस्तान्तरित होता जाता है। यह परिप्रेक्ष्य यह भी समझने का प्रयास करता है कि संस्कृति या व्यवस्था की संरचना, विश्वास, भूमिकाएं, प्रथाएं तथा संस्थाएं किस प्रकार अपनी भूमिकाओं का निर्वह्न करती हैं।

यह परिप्रेक्ष्य इस बात पर विश्वास करता है कि समाज विभिन्न इकाईयों से निर्मित है और उनका संयोजन सहमति से ही संभव है अर्थात् उनका मानना है कि किसी सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाईयां अपने पृथक-पृथक प्रकार्यों के माध्यम से किस प्रकार संरचना को बनाये रखने में अपना सहयोग प्रदान करती हैं।

भारत में तार्किक शोध के लिए संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक उपयोग का श्रेय प्रो0 एम0 एन0 श्रीनिवास को दिया जाना चाहिए। सामाजिक यथार्थता को समझने के लिए यह उपागम क्षेत्रीय कार्य पर अधिक आश्रित है। परिवेशों को समझने के लिए क्षेत्र दृष्टि को प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य है।

एम0 एन0 श्रीनिवास, एस0 सी0 दूबे, मैकिम मैरिएट, आई0 पी0 देसाई, डी0 एन0 मजूमदार आदि ने अपने अध्ययनों में इसी परिप्रेक्ष्य को अपनाया है।

2.12 मार्क्सवादी अथवा संघर्ष परिप्रेक्ष्य (Marxian or Conflict Perspective)-

.यह उपागम मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित है। यह संरचनात्मक प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य के विपरीत है। इसके माध्यम से समाज में व्याप्त तनाव, असन्तोष व संघर्ष का विश्लेषण किया जाता है। इस उपागम के अनुसार वर्तमान समाज तनाव व संघर्ष से घिरा हुआ है। सामाजिक जीवन में किसी भी बात पर सामाान्य सहमति न होकर असहमति, स्वार्थ व प्रतिस्पद्र्धा निहित है। जिस कारण संघर्ष का जन्म होता है और इस कार्य के लिए समाज का प्रत्येक तत्व विघटन एवं परिवर्तन के लिए योगदान देता है।

मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य यह भी मानता है कि देश में हो रहे सामाजिक रूपान्तरण को समझने के लिए भारतीय समाज में स्थित सम्पत्ति संबंधों को समझना अत्यंत आवश्यक है। ए0 आर0 देसाई के अनुसार'' भारतीय समाज को समझने के लिए जाति, आदिवासी समूहों, धर्म, भाषायी समूहों और विशिष्ट सांस्कृतिक तत्वों को नकारा नहीं जा सकता, बल्कि यह उपागम इन तथ्यों के संपत्ति संबंधों की संरचना में हस्तक्षेप और उने योगदान की चर्चा करना चाहता है। इनकी रूचि औद्योगिक संबंधों के अध्ययन में है। जिनका संबंध पूंजीपति व श्रमिक से है। इसे सामाजिक परिवेश में उभर रहे गांव, नगर, शिक्षा और अन्य विकास योजनाओं के संदर्भ में बन रही संरचना के साथ जोड़ा जा सकता है।

मार्क्सवादी उपागम उन मिथकों को भी तोड़ सकता है कि किसी भी समाजवादी समाज की घोषणा मात्र मिथक व कल्पना है। बुर्जुआ वर्ग भारत में प्रभुत्वशाली है और भारत की अर्थव्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था केंद्रित है जो साम्राज्यवादी पूंजीवाद का प्रतिबिम्ब है। इस परिप्रेक्ष्य में ए0 आर0 देसाई की प्रमुख भूमिका है जिन्होंने समझाने का प्रयास किया है कि भारतीय सामाजिक यथार्थता को समझने के लिए मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य किस प्रकार उपयोगी एवं महत्वपूर्ण है। अपनी कृतियों 'द सोशल बैक ग्राउण्ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म' (Social Background of Indian Nationalism-1966) तथा रूरल सोशियोलाजी इन इण्डिया (Rural Sociology in India-1954) आदि में उन्होंने मार्क्सवादी विश्लेषण पर जोर दिया। इसके अतिरिक्त प्रो0 डी0 पी0 मुकर्जी तथा आर0 के0 मुकर्जी आदि भारतीय समाजशास्त्रीय विद्वान भी इसके समर्थक हैं।

2.13 संस्तरणात्मक परिप्रेक्ष्य; Stratification Perspectives)-

संस्तरण एक सामाजिक श्रेणीबद्ध व्यवस्था है जो उच्चता व निम्नता पर आधारित है। समाज में असमानता अचेतन रूप में स्वयंमेव रूप से बनी हुई एक व्यापक व्यवस्था है जो स्पष्ट करती है कि समाज में समानता की स्थिति नहीं आ सकती अर्थात् यह एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत समाज के विभिन्न समूहों को क्रमशः उच्च से निम्न तक की स्थिति, पद या स्थान प्राप्त हो जाते हैं और उसके अनुसार एक समूह कुछ विशेषाधिकारों अथवा निर्योग्यताओं का भी हकदार होता है।

भारत में सामाजिक संस्तरण संबंधी परिप्रेक्ष्य अध्ययन का प्रारम्भ बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से माना जाता है। 1974, 1977 तथा 1985 में प्रोफेसर योगन्द्र सिंह ने ICSSR के लिए एक रिपोर्ट में कुछ महत्वपूर्ण व आवश्यक विषयों की चर्चा की थी जिसमें सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक क्षमता तथा सामाजिक न्याय और मुनष्य की प्रकृति का विश्लेषण किया था। ऐसे ही प्रो0 के0 एल0 शर्मा ने 1977 में सामाजिक संस्तरण के सैद्धान्तिक उपागमों तथा वैचारिक पद्धतियों की चर्चा सामाजिक गतिशीलता, आदिवासी समूह, नृजातीय समूह, संस्कृति, ग्रामीण कृषक, वर्ग आदि के माध्यम से की है। सुरेन्द्र शर्मा ने 1985 में '(Sociology of India : A Perspective From Sociology of Knowledge) में सामाजिक संस्तरण सिद्धान्त, वैचारिकी और पद्धति संरचना का विश्लेषण किया है। इनके अध्ययन जाति, वर्ग, शक्ति, सम्पत्ति, गतिशीलता आदि आधारित थे।

भारत में संस्तरण के अन्य क्षेत्रों में शक्ति, जैण्डर, नृजाति और प्रजाति आदि भी सम्मिलित हैं। अभी हाल में मोदी, नागल, अग्रवाल द्वारा उनकी कृति 'थीम्स इन सोशल स्ट्रैटिफिकेशन एण्ड मोबिलिटी' (Themes in Social Stratification and Mobility-2009) में सामाजिक संस्तरण, गतिशीलता, ग्राम समुदाय, नगरीय जीवन, आदिवासी, कृषक आन्दोलन, जैण्डर इत्यादि की चर्चा की है।

इसके अतिरिक्त अनिल भट्ट (1975), जी0 एस0 घुर्ये (1950, 1961), दीपान्कर गुप्ता (1991), के0 एल0 शर्मा (1974, 1980, 1986, 1994, 1997, 1999), योगेन्द्र सिंह (1974, 1977, 1984) आदि भारतीय समाजशास्त्रियों ने संस्तरण संबंधी परिप्रेक्ष्य के आधार पर अध्ययन किए हैं।

2.14 सभ्यता परिप्रेक्ष्य (Civilization Perspective)–-

भारतीय समाज के अध्ययन में अपनाया जाने वाला यह परिप्रेक्ष्य सभ्यता को विश्लेषण का आधार मानता है। सभ्यता मूलतः उन भौतिक उत्पादनों से संबद्ध होती है जिन्हें मनुष्य ने वातावरण में अपना जीवन व्यवस्थित करने के लिए निर्मित किया है।

सभ्यता परिप्रेक्ष्य दीर्घ या लघु परम्पराओं की जटिलताओं, सामाजिक संरचना, संस्कृति में परिवर्तन को समझने तथा ग्रामीण एवं नगरीय संस्कृति के पक्षों के अध्ययन की जानकारी के लिए अत्यधिक उपयोगी व महत्वपूर्ण हैं। सभ्यता परिप्रेक्ष्य के प्रमुख स्रोतों में शास्त्रीय तथा मध्य युग के शास्त्रों का विश्लेषण, प्रशासकीय रिकॉर्ड, गांव एवं जाति का विस्तृत आधार उसका ताना-बाना, एकता, विविधता आदि को सम्मिलित किया जाता है। इनके विषयों में धर्म, गांव, जाति, राज्य, भूमि संबंध आदि को लिया जाता है।

इस परिप्रेक्ष्य के समर्थकों का मानना है कि सामाजिक व्यवस्था, राष्ट्र और सभ्यता का विशद अध्ययन ऐतिहासिक सभ्यता परिप्रेक्ष्य से ही किया जा सकता है। एन0 के0 बोस, सुरजीत सिन्हा, बर्नार्ड, कोहम आदि इस परिप्रेक्ष्य के मुख्य अध्ययन करता है। इनका मानना है कि किसी भी समाज की सभ्यता ही उसका आइना होती है और इसका अध्ययन ठोस मानदण्डों के आधार पर ही संभव है। यह जनजातीय समाज से लेकर औद्योगिक समाजों तक के सभी प्रकार के समाजों के लिए श्रेष्ठ व उपयोगी माना जाता है।

2.15 अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य (Subaltern Perspective)-

यह परिप्रेक्ष्य किसी भी समाज के अध्ययन में उन वर्गों पर विशेष ध्यान देता है जो सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था में अन्तर्निहित दोषों के कारण विविध प्रकार की सुविधाओं से वंचित रहने के कारण पिछड़े हुए है। इसमें इन वर्गों की वंचनाओं को उजागर कर परिवर्तन व उनके उत्थान पर भी बल दिया जाता है, अर्थात् निम्न स्तर के लोगों का अवलोकन या अध्ययन अधीनस्थ शब्द के साथ जुड़ा हुआ है।

आदिवासी, किसान-आन्दोलनों के लिए यह परिप्रेक्ष्य काफी महत्वपूर्ण है। श्रेष्ठजन और जन के बीच की राजनीति को समझने के लिए यह अत्यधिक उपयोगी है। इस उपागम के समर्थक इस बात पर बल देते हैं कि आज तक का इतिहास राष्ट्रवाद व श्रेष्ठजन का वर्णन करता है जबकि कमजोर वर्ग का हाशिए में खड़े वर्गों को भी इसके शामिल किया जाना चाहिए इसलिए इतिहास का पुनर्लेखन आवश्यक है। यही कारण रहा कि इसके समर्थकों ने दस्तकार, गरीब, किसान, भूमिहीन, श्रमिक तथा गरीबों पर अपना ध्यान केंद्रित करने का निश्चय किया। इसे दलितोद्धार परिप्रेक्ष्य भी कहा जाता है। डा॰ भीमराव अम्बेडकर, डेविड हार्डमैन, रणजीत गुहा अदि ने इस परिप्रेक्ष्य को अपना समर्थन प्रदान किया है और इसे भारतीय समाज की वास्तविकता को समझने के लिए उपयोगी बतलाया है।

उपरोक्त वर्णित प्रत्येक परिप्रेक्ष्य पृथक-पृथक रूप से विकसित होने के पश्चात भी एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अपनी-अपनी विषय-वस्तु के आधार पर अलग-अलग परिप्रेक्ष्य के विद्वानों की लेखनी भारतीय सामाजिक, संरचना व व्यवस्था की यथार्थता को समझने में अपना योगदान देती हैं।

2.16 सारांश-

प्रत्येक विषय की विषय-वस्तु का अध्ययन के लिए अलग-अलग विद्वान और उनका अलग-अलग दृष्टिकोण, उपागम या परिपे्रक्ष् होता है। ये दृष्टिकोण समाज में व्याप्त समस्याओं, उनके समाधानों व समयानुसार परिवर्तन के लिए महत्वपूर्ण होता है। इन परिपे्रक्ष्यों के आधार पर ही चिन्तक, लेखक, विद्वान सामाजिक यथार्थता में पायी जाने वाली नियमबद्धता अथवा अनियमबद्धता की व्याख्या करते हैं।

भारतीय समाज जटिल है। इसका परिवेश अत्यधिक विस्तृत और व्यापक है। अतः इस समाज, इसकी व्यवस्था या संरचना को किसी एक परिप्रेक्ष्य से समझा जाना मुश्किल है। यहां की सभ्यता प्रजातांत्रिक तथा पंथ-निरपेक्ष्य है। भारतीय समाज के अध्ययन हेतु विद्वानों द्वारा उल्लेखित दर्शनशास्त्रीय, भारतीय विद्याशास्त्रीय, सामाजिक मानवशास्त्रीय, पश्चिमी आनुभाविक, ऐतिहासिक, संरचनात्मक प्रकार्यात्मक, माक्सर्वादी, संस्तरणात्मक, सभ्यता तथा अधीनस्थ परिपे्रक्ष्यों का विद्यार्थियों से परिचय कराते हुए कौन विद्वान किस परिप्रेक्ष्य से संबंधित है तथा उनकी प्रमुख कृतियों को भी अध्ययन के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

2.17 अभ्यास प्रश्न-

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न **(Long Answer Type Question)**

1. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य किसे कहते हैं? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की व्याख्या करते हुए इसमें जी0 एस0 घुर्ये के योगदान को समझाइए।
3. संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य पर एक निबंध लिखिए।
4. भारतीय समाज के विश्लेषण में डी0 पी0 मुकर्जी द्वारा प्रयुक्त मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य की विवेचना कीजिए।
5. एम0 एन0 श्रीनिवास संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य को किस अध्ययन के आधार पर स्पष्ट करते हैं।

लघु उत्तरीय प्रश्न **(Short Answer Type Question)**

1. सभ्यता परिप्रेक्ष्य पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य से जुड़े कुछ विद्वानों के नाम व उनकी कृतियों का उल्लेख कीजिए।
3. ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के प्रमुख स्रोत लिखिए।
4. सभ्यतामूलक परिप्रेक्ष्य क्या है?
5. किन्हीं दो भारतीय परिप्रेक्ष्यों का संक्षिप्त उल्लेख कीजिए।

2.18 शब्दावली

1. परिप्रेक्ष्य-परिप्रेक्ष्य को उपागम या दृष्टिकोण भी कहा जाता है। यह देखने का एक विशिष्ट नजरिया या तरीका होता होता है। जिसके द्वारा समाजशास्त्रीय अपने अध्ययन को समन्वित व सुव्यवस्थित करते हैं।

2. भारतीय विद्याशास्त्रीय-इस परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज की यथार्थता को समझने के लिए उन ग्रंथों और महाकाव्यों की सहायता ली जाती है जिसमें भारतीय समाज का विशद चित्रण प्रस्तुत् होता है।

3. संरचनात्मक प्रकार्यावाद- इसका प्रयोग समाजशास्त्री व मानवशास्त्री दोनों अध्ययनों के लिए किया जाता है। इसकी मान्यता के अनुसार समाज या सामाजिक संरचना का प्रत्येक अंग व इकाई सामाजिक संरचना व व्यववस्था को बनाये रखने में अपना-अपना कार्य कर योगदान देती हैं।

4. अधीनस्थ-अधीनस्थ का तात्पर्य किसी के अधीन रहने वाली प्रक्रिया से है। इसे दलितोद्धार भी कहा जाता है। यह दलित, कमजोर, वर्ग का अध्ययन कर उनका उद्धार एवं सामाजिक-आर्थिक उत्थान करने पर बल देता है।

2.19 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बी0 के0 नागला-भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन-2015

2. वी0 एन0 सिंह, भररतीय सामाजिक चिंतन-1986

3. डॉ0 कमलेश महाजन-भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य-2005

4. जे0 पी0 सिंह-समाजशास्त्र अवधारणाएं एवं सिद्धान्त-2002

5. कोसाम्बी डी0 डी0-एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री-1956

6. आर0 के0 मुकर्जी-द लैण्ड प्रॉब्लम्स ऑफ इण्डिया-1927

2.20 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1- Singh Yogendra- Indian Sociology-1986

2- G.S.Ghurye-Cast, Class and Occupation-1932

3- Bose N.K.-Cultural Anthropology-1961

4- Sinha S.-Tribes and Indian Civilization-A Perspective-1980

5- Ranjit Guha-A Subaltern Studies Reader-1986-1995

इकाई – 3

डी. डी. कोसाम्बी (D. D. Kosambi)

3 .1 प्रस्तावना

3 .2 उद्देश्य

3 .3. शोध पद्धति और तकनिकी

3 .4 .उत्पादन पद्धति

3 .5. कृषि पैटर्न और सामाजिक परिवर्तन

3 .6. विवाह और परिवार

3.7. सामाजिक-आर्थिक संरचनाएँ

3.8. राजनीतिक व्यवस्था

3.9. मिथक और वास्तविकता

3.10. प्राचीन भारत में जाति

3.11. गाँव और ग्रामीण जीवन

3.12. जीवित प्रागितिहास

3.13 सारांश :

3.14 शब्दावली

3.15 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

3.16 लघु उत्तरीय प्रश्न:

3.17 संदर्भ ग्रंथ सूची

3.1. प्रस्तावना

दामोदरस कोसांबी (D. D. Kosambi) भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र के एक महान विद्वान थे, जिनका जन्म 31 जुलाई 1907 को गोवा में एक ऊँची जाति के कोंकणी परिवार में हुआ था। उनके पिता, धर्मानंद कोसांबी, बौद्ध अध्ययन के प्रसिद्ध विद्वान थे और पुणे के फर्ग्यूसन कॉलेज में पाली पढ़ाते थे। बाद में धर्मानंद कोसांबी हार्वर्ड यूनिवर्सिटी में विजिटिंग फैकल्टी मेंबर के रूप में पढ़ाने और पाली ग्रंथों पर काम करने गए।

डी. डी. कोसांबी उनके साथ अमेरिका गए और वहीं पले-बढ़े। उन्होंने हार्वर्ड विश्वविद्यालय से गणित की पढ़ाई की। उनकी बेटी मीरा के अनुसार, कोसांबी गणित की कठोर और तार्किक प्रकृति के कारण इस विषय की ओर आकर्षित हुए। अमेरिका में रहते हुए उन्होंने मार्क्सवादी राजनीतिक विचारों का गहन अध्ययन किया, जो उनके शुरुआती जीवन में विकसित रुचि थी।

भारत लौटने के बाद उन्होंने बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और पुणे के फर्ग्यूसन कॉलेज में गणित पढ़ाई। 1946 में वह मुंबई के टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च में शामिल हुए, लेकिन कुछ वर्षों बाद उन्हें संस्थान छोड़ना पड़ा क्योंकि उनके विचार जवाहरलाल नेहरू की परमाणु नीति पर होमी भाभा के विचारों से भिन्न थे। 1950 के दशक में उनकी मार्क्सवादी सोच ने उन्हें शांति आंदोलन के करीब ला दिया।

डी. डी. कोसांबी का योगदान केवल इतिहास तक सीमित नहीं था; उन्होंने गणित, सांख्यिकी, पुरातत्व और मानवशास्त्र का एकत्रित उपयोग कर भारतीय समाज और संस्कृति का बहुआयामी अध्ययन किया। उनका दृष्टिकोण मार्क्सवादी ऐतिहासिक पद्धति पर आधारित था, लेकिन उन्होंने इसे भारतीय परिस्थितियों के अनुसार ढालकर नया आयाम दिया।

कोसांबी का निधन 26 जून 1966 को 58 वर्ष की आयु में हृदयाघात के कारण हुआ। उनका जीवन और कार्य आज भी भारतीय समाज, इतिहास और सांस्कृतिक अध्ययन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

3.2: उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी—

कोसांबी की भारतीय इतिहास की वैज्ञानिक समझ को समझ सकेंगे। ।

कोसांबी के उत्पादन पद्धति और आर्थिक संरचना के विश्लेषण को समझ सकेंगे। ।

कोसांबी के सामाजिक परिवर्तन और जाति व्यवस्था का अध्ययन को समझ सकेंगे।

कोसांबी द्वारा प्रस्तुत विवाह और परिवार के सामाजिक-ऐतिहासिक आधार पर विश्लेषण को समझ सकेंगे। ।

कोसांबी द्वारा प्रस्तुत ग्रामीण जीवन और सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन समझ सकेंगे।

कोसांबी द्वारा प्रस्तुत मिथक और वास्तविकता के बीच संबंध को समझ सकेंगे।

कोसांबी की बहुआयामी ऐतिहासिक पद्धति के माध्यम से धर्म, राजनीति, समाज और अर्थव्यवस्था के

आपसी संबंध को समझ सकेंगे।

3.3. शोध पद्धति और तकनिकी :

कोसांबी ने भारतीय इतिहास के अध्ययन में एक बिल्कुल नया दृष्टिकोण पेश किया। उन्होंने वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करते हुए इतिहास की व्याख्या और विश्लेषण के आधुनिक तरीकों का इस्तेमाल किया। उनके अध्ययन में यह खास बात थी कि वे इतिहास के मूलभूत सवालों को चुनने, उनका विश्लेषण करने और उन्हें प्रस्तुत करने में बहुत व्यवस्थित और तार्किक दृष्टिकोण अपनाते थे। इस वजह से उनके लेखन में न केवल तथ्य स्पष्ट होते हैं, बल्कि वह पढ़ने में रोचक और आकर्षक भी बन जाता है।

कोसांबी के काम में सबसे नवीन पहलू यह है कि उन्होंने नई सामग्री का बहुतायत में उपयोग किया। उन्होंने प्राचीन स्मारकों, मिक्रोलीथ्स और मेगालिथ्स (पत्थर के बड़े ढांचे) के साथ-साथ ग्रामीण अंधविश्वास और किसान प्रथाओं की खोज की और उनका अध्ययन किया। इसके माध्यम से उन्होंने यह समझाने का प्रयास किया कि अतीत की समझ प्राप्त करने के लिए स्मारकों, परंपराओं और ऐतिहासिक रिकॉर्ड का अध्ययन कितना महत्वपूर्ण है।

इसके लिए उन्होंने कई क्षेत्रों में वैज्ञानिक तरीकों का प्रभावशाली उपयोग किया। उदाहरण के लिए, पुरातत्व (Archaeology) में खनन और मलबे के अध्ययन के जरिए वस्तुएँ और संरचनाओं का विश्लेषण किया। मानवशास्त्र (Ethnography) में जनजातियों और ग्रामीण समुदायों की जीवनशैली और प्रथाओं का अध्ययन किया। भाषाशास्त्र (Philology) में प्राचीन ग्रंथों और भाषाओं का गहन विश्लेषण किया। इन सभी तरीकों के माध्यम से उन्होंने इतिहास को सिर्फ कथाओं या मिथकों का संग्रह नहीं माना, बल्कि इसे वैज्ञानिक ढंग से समझने योग्य बनाया।

संक्षेप में, कोसांबी ने इतिहास अध्ययन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण, क्षेत्रीय अनुसंधान और बहुआयामी विश्लेषण का संयोजन किया, जिससे भारतीय इतिहास का अध्ययन अधिक सटीक, जीवंत और बहुआयामी हो गया।

3.4. उत्पादन पद्धति (Mode of Production)

डी.डी. कोसांबी भारतीय इतिहास के एक महत्वपूर्ण इतिहासकार थे। उन्होंने इतिहास को केवल राजाओं, युद्धों और वंशों की कहानी मानने से मना किया। उनके अनुसार इतिहास को समाज और अर्थव्यवस्था के अध्ययन के रूप में देखना चाहिए। कोसांबी (1975:13) कहते हैं कि भारतीय इतिहास को समझने की कुंजी उत्पादन पद्धति है।

उनके अनुसार इतिहासकार के लिए सबसे ज़रूरी सवाल यह नहीं है कि उस समय राजा कौन था, बल्कि यह है कि लोग किस तरह से खेती करते थे। वे कहते हैं कि यह जानना अधिक महत्वपूर्ण है कि उस समय लोग हल्का हल या भारी हल

इस्तेमाल करते थे। इससे यह पता चलता है कि समाज की आर्थिक स्थिति कैसी थी। यह विचार उनके भौतिकवादी इतिहास दृष्टिकोण को दिखाता है।

कोसांबी मानते हैं कि खेती की तकनीक—जैसे हल का प्रकार, सिंचाई की व्यवस्था और भूमि की प्रकृति—यह तय करती है कि समाज में कितना अधिशेष (extra उत्पादन) होगा। यही अधिशेष आगे चलकर यह तय करता है कि समाज में संपत्ति किसके पास होगी, वर्ग कैसे बनेंगे और परिवार व रिश्तेदारी की व्यवस्था कैसी होगी।

इसलिए उनके अनुसार परिवार और रिश्तेदारी की प्रणालियाँ अपने-आप नहीं बनतीं, बल्कि वे आर्थिक परिस्थितियों, खासकर कृषि व्यवस्था, से जुड़ी होती हैं। यह सोच परंपरागत और आदर्शवादी विचारों से अलग है।

कोसांबी की यह सोच कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स के विचारों से प्रभावित है। मार्क्स ने कहा था कि समाज की आर्थिक व्यवस्था ही उसकी सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक संरचना को तय करती है। इसी तरह एंगेल्स ने बताया कि जैसे-जैसे उत्पादन के तरीके बदलते हैं, वैसे-वैसे परिवार, विवाह और संपत्ति की व्यवस्थाएँ भी बदलती हैं। कोसांबी इन विचारों को भारत की परिस्थितियों के अनुसार लागू करते हैं और खेती के विस्तार, भूमि के उपयोग और अधिशेष के महत्व पर ज़ोर देते हैं।

कोसांबी का मानना है कि राजवंशों में बदलाव और धार्मिक आंदोलनों को अचानक हुई घटनाएँ नहीं मानना चाहिए। उनके अनुसार बड़े राजनीतिक और धार्मिक परिवर्तन आमतौर पर समाज की आर्थिक संरचना में हुए गहरे बदलावों का परिणाम होते हैं। इसलिए वे उन इतिहासकारों की आलोचना करते हैं जो धर्म और राजनीति को स्वतंत्र कारण मानते हैं। कोसांबी के अनुसार धर्म, राज्य और सत्ता—सब आर्थिक ढाँचे से जुड़े होते हैं।

उदाहरण के तौर पर, वे बताते हैं कि जब जंगलों को साफ करके खेती बढ़ाई गई, जनजातीय समाजों को कृषक समाज में शामिल किया गया और भूमि दान की प्रथा शुरू हुई, तो ये केवल आर्थिक परिवर्तन नहीं थे। इनके साथ-साथ नए धार्मिक विचार और संस्थाएँ भी विकसित हुईं।

हालाँकि कोसांबी मार्क्सवादी सिद्धांतों को कठोर या यांत्रिक तरीके से लागू नहीं करते। वे कहते हैं कि मार्क्सवाद पूरे मानव इतिहास की व्याख्या करता है, जबकि भारतीय इतिहास उसका केवल एक हिस्सा है। इसलिए भारत में इसे लागू करते समय क्षेत्रीय और समयगत अंतर को समझना ज़रूरी है। उनके अनुसार कुछ क्षेत्रों में विकास के बजाय ठहराव या पीछे जाने की स्थिति भी हो सकती है। यानी इतिहास हमेशा सीधी रेखा में आगे नहीं बढ़ता।

कोसांबी की यह सोच बाद के इतिहासकारों में भी दिखाई देती है। ई.पी. थॉम्पसन ने इतिहास में मानव अनुभव और भूमिका पर ज़ोर दिया। वहीं इरफान हबीब ने भारत में कृषि संबंधों की क्षेत्रीय असमानताओं को दिखाया। ये सभी विचार कोसांबी की सोच को आगे बढ़ाते हैं।

कोसांबी की एक और महत्वपूर्ण अवधारणा है "प्रतिबिंब की पद्धति" (Mode of Reflection)। वे मानते हैं कि भौतिक परिस्थितियाँ ज़रूरी हैं, लेकिन विचार, विश्वास और धर्म की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। उनके अनुसार जब कोई विचार जनता में गहराई से फैल जाता है, तो वह एक सामाजिक शक्ति बन जाता है। इन्हीं विचारों के माध्यम से लोग अपने संघर्षों को समझते और व्यक्त करते हैं।

यह विचार मार्क्स की जर्मन विचारधारा से मिलता-जुलता है और ग्राम्शी की वैचारिक प्रभुत्व की अवधारणा से भी जुड़ा हुआ है। ग्राम्शी के अनुसार शासक वर्ग केवल ताकत से नहीं, बल्कि विचारों के ज़रिये भी शासन करता है। कोसांबी मानते हैं कि इतिहासकार का काम यह बताना है कि कोई विचार जनता में कब, कैसे और क्यों प्रभावी हुआ।

इस प्रकार, डी.डी. कोसांबी की उत्पादन पद्धति पर आधारित ऐतिहासिक पद्धति हमें भारतीय इतिहास को वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय ढंग से समझने में मदद करती है। उनके अनुसार अर्थव्यवस्था, समाज, धर्म, राजनीति और विचार—सब आपस में जुड़े हुए हैं। उनकी इस सोच ने भारतीय सामाजिक इतिहास को नई दिशा दी और आज भी यह पद्धति बहुत प्रासंगिक है।

3.5. कृषि पैटर्न और सामाजिक परिवर्तन

डी.डी. कोसांबी भारतीय अतीत को समझने के लिए केवल राजाओं और युद्धों को नहीं, बल्कि समाज के भीतर हुए बड़े सामाजिक परिवर्तनों को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। उनका मानना है कि भारत के इतिहास में सबसे बड़ा परिवर्तन जनजातीय समाज से जाति आधारित समाज में बदलाव था। यह परिवर्तन अचानक नहीं हुआ, बल्कि एक लंबी ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम था।

कोसांबी के अनुसार, यह बदलाव मुख्य रूप से कृषि पद्धति में परिवर्तन, विशेषकर हल वाली खेती के शुरू होने से जुड़ा हुआ था। पहले लोग छोटे-छोटे समूहों में रहते थे, जिन्हें जनजाति या कबीला कहा जा सकता है। ये समूह स्थानीय स्तर पर रहते थे और सामूहिक जीवन जीते थे। लेकिन जब विभिन्न क्षेत्रों में हल का उपयोग करके खेती शुरू हुई, तो उत्पादन बढ़ा और समाज की आर्थिक व्यवस्था बदलने लगी।

हल वाली खेती से अधिशेष उत्पादन हुआ। इस अधिशेष ने समाज में असमानता को जन्म दिया। धीरे-धीरे जनजातीय और कबीलाई संरचनाएँ टूटने लगीं और उनकी जगह जाति व्यवस्था ने सामाजिक संगठन का रूप ले लिया। इस प्रकार जाति व्यवस्था जनजातीय समाज का एक नया और स्थायी विकल्प बन गई।

कोसांबी बताते हैं कि इस सामाजिक परिवर्तन को कुल-टोटम (Clan Totem) से भी समझा जा सकता है। प्रारंभ में जनजातियों और कुलों की पहचान किसी पशु, पेड़ या प्रतीक से होती थी, जिसे टोटम कहा जाता था। समय के साथ ये टोटम पहले कुल नामों में बदले और बाद में वही नाम जाति नामों का रूप लेने लगे। इससे यह स्पष्ट होता है कि जाति व्यवस्था की जड़ें जनजातीय समाज में थीं।

कोसांबी के अनुसार, जिस मार्ग से हल वाली खेती समाज में फैली, वही मार्ग जाति समाज में नियंत्रण का मुख्य साधन बन गया। इस प्रक्रिया में ब्राह्मण बस्तियों (ब्राह्मण ग्रामों) की विशेष भूमिका रही। ये ब्राह्मण बस्तियाँ देश के अलग-अलग हिस्सों में स्थापित की गईं और इन्हीं के माध्यम से कृषि ज्ञान, धार्मिक नियम और सामाजिक नियंत्रण फैलाया गया।

इन ब्राह्मण बस्तियों के कारण स्थानीय समाज और पंथों पर ब्राह्मण परंपरा का प्रभाव बढ़ा। स्थानीय देवी-देवताओं और पंथों को धीरे-धीरे ब्राह्मण धर्म में शामिल किया गया। यह प्रक्रिया विभिन्न पुराणों और महात्म्यों में साफ दिखाई देती है, जहाँ स्थानीय देवताओं को किसी न किसी रूप में ब्राह्मण धर्म का हिस्सा बना दिया गया।

कोसांबी के अनुसार, इस प्रक्रिया का एक और महत्वपूर्ण पक्ष संस्कृतीकरण है। स्थानीय लोक पंथों को ब्राह्मण परंपरा में शामिल करने के लिए कई तरीके अपनाए गए। इनमें ब्राह्मण पुजारियों को स्थानीय पूजा-पद्धतियों में शामिल करना, वैदिक या ब्राह्मणीय अनुष्ठानों को लागू करना, और स्थानीय देवी-देवताओं को महाकाव्य नायकों-नायिकाओं से जोड़ना शामिल था। इस प्रकार स्थानीय लोक देवताओं को संस्कृत पौराणिक कथाओं में स्थान दिया गया।

इस पूरी प्रक्रिया से स्थानीय समाज धीरे-धीरे ब्राह्मणवादी सामाजिक और धार्मिक ढाँचे में समाहित होता गया। जनजातीय समाज, जो पहले अपेक्षाकृत समानता पर आधारित था, अब जाति आधारित, असमान और श्रेणीबद्ध समाज में बदल गया।

इस प्रकार डी.डी. कोसांबी के अनुसार, भारत में जनजाति से जाति समाज में परिवर्तन का मुख्य कारण हल वाली खेती का विस्तार था। कृषि पद्धति में हुए इस बदलाव ने न केवल आर्थिक संरचना बदली, बल्कि सामाजिक संगठन, धार्मिक विश्वास और सांस्कृतिक परंपराओं को भी गहराई से प्रभावित किया। कोसांबी का यह विश्लेषण भारतीय इतिहास को समझने के लिए एक वैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि प्रदान करता है।

3.6. विवाह और परिवार (Marriage and Family)

डी.डी. कोसांबी ने विवाह और परिवार की संस्था को समझने के लिए मानवशास्त्रीय (Anthropological) और कार्यात्मक (Functional) दृष्टिकोण अपनाया। उनका मानना था कि विवाह और पारिवारिक व्यवस्थाएँ केवल सामाजिक नियम नहीं हैं, बल्कि इनके पीछे समाज के प्रारंभिक धार्मिक विश्वास, आर्थिक ज़रूरतें और सांस्कृतिक परंपराएँ जुड़ी होती हैं।

कोसांबी के अनुसार, प्राचीन और पूर्व-ऐतिहासिक (prehistoric) समाजों में विवाह की संस्था का संबंध "पवित्र विवाह" (Sacred Marriage) की धारणा से था। इस पवित्र विवाह में देवी और नायक या राजा के बीच प्रतीकात्मक विवाह दिखाया जाता था। इसका उद्देश्य समाज की उर्वरता, कृषि की सफलता और समुदाय की भलाई सुनिश्चित करना होता था। इस परंपरा में माता देवी (Mother Goddess) की प्रमुख भूमिका होती थी।

कोसांबी यह भी मानते हैं कि कई प्राचीन मिथकों (कथाओं) में नायक का बलिदान दिखाया जाता है। उनके अनुसार यह बलिदान वास्तव में मातृदेवी को प्रसन्न करने के लिए किया जाने वाला एक धार्मिक अनुष्ठान था। बाद में यही धार्मिक प्रतीक कथाओं और मिथकों का रूप ले लेते हैं। इस तरह कोसांबी मिथकों को केवल कल्पना नहीं मानते, बल्कि उन्हें समाज के प्रारंभिक जीवन और विश्वासों का प्रतिबिंब मानते हैं।

कोसांबी की एक महत्वपूर्ण मान्यता यह है कि प्रारंभिक समाज मातृसत्तात्मक (matriarchal) थे, यानी वंश और संपत्ति माँ की ओर से चलती थी। उनका मानना था कि समय के साथ समाज में बदलाव आया और धीरे-धीरे पितृसत्तात्मक (patrilineal) व्यवस्था विकसित हुई, जिसमें वंश पिता की ओर से चलने लगा। कोसांबी के अनुसार, कई मिथक इसी परिवर्तन—मातृसत्ता से पितृसत्ता की ओर बदलाव—को दर्शाते हैं।

उनका कहना था कि विवाह से जुड़ी कुछ प्रथाएँ, जैसे वधू-मूल्य (Bride Price), मातृसत्तात्मक व्यवस्था की बची हुई परंपराएँ हैं। वधू-मूल्य का अर्थ है कि वर पक्ष, वधू के परिवार को धन या वस्तुएँ देता है। कोसांबी के अनुसार, यह प्रथा उस समय की याद है जब स्त्रियों की सामाजिक और आर्थिक भूमिका अधिक महत्वपूर्ण थी और पुरुष स्त्री के परिवार में शामिल होता था।

हालाँकि, कोसांबी की इस धारणा की आज के विद्वान पूरी तरह पुष्टि नहीं करते। आधुनिक मानवशास्त्रीय अध्ययनों से पता चला है कि सभी समाज मातृसत्तात्मक से पितृसत्तात्मक नहीं बने। कई समाज ऐसे भी हैं जो शुरू से ही पितृवंशीय रहे हैं। इसलिए यह कहना कि हर समाज में मातृसत्ता से पितृसत्ता की ओर ही बदलाव हुआ, अब पूरी तरह स्वीकार्य नहीं माना जाता।

फिर भी, विवाह और परिवार को मिथकों, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक संरचना से जोड़कर देखने का कोसांबी का प्रयास बहुत महत्वपूर्ण है। उन्होंने यह दिखाया कि विवाह जैसी सामाजिक संस्था को समझने के लिए उसके पीछे छिपे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भों को जानना आवश्यक है।

इस प्रकार, डी.डी. कोसांबी ने विवाह और परिवार की संस्था को केवल सामाजिक नियमों के रूप में नहीं देखा, बल्कि उन्हें प्राचीन धार्मिक विश्वासों, मिथकों और सामाजिक परिवर्तन से जोड़कर समझने की कोशिश की। यद्यपि मातृसत्ता से पितृसत्ता की उनकी धारणा पर आज बहस होती है, फिर भी भारतीय समाज के प्रारंभिक इतिहास को समझने में उनका योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है।

3.7. सामाजिक-आर्थिक संरचनाएँ:

डी. डी. कोसाम्बी भारतीय इतिहास की सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं को समझने के लिए कृषि तकनीक को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार सिंधु घाटी सभ्यता की खेती मुख्य रूप से बिना हल के होती थी। नदी के किनारे की जमीन को हैरो जैसे साधारण औज़ारों से जोता जाता था और सिंचाई के लिए मौसमी बाढ़ के पानी का उपयोग किया

जाता था। बाँधों और तटबंधों के माध्यम से बाढ़ के पानी और उपजाऊ मिट्टी को अधिक समय तक रोककर रखा जाता था, जिससे खेती संभव होती थी। इस तरह सिंधु सभ्यता की कृषि व्यवस्था प्राकृतिक संसाधनों और सामूहिक श्रम पर आधारित थी।

कोसाम्बी का मानना था कि सिंधु सभ्यता का पतन आर्यों के आगमन के कारण हुआ। उनके अनुसार आर्यों ने तटबंधों को तोड़ दिया, जिससे सिंचाई व्यवस्था नष्ट हो गई और कृषि संकट पैदा हुआ। इस घटना को वे ऋग्वेद में इंद्र द्वारा वृत्र को मारने और जल को मुक्त करने की कथा से जोड़ते हैं। उनके लिए यह कथा केवल धार्मिक नहीं थी, बल्कि उस समय की वास्तविक सामाजिक-आर्थिक घटनाओं का प्रतीक थी। कोसाम्बी यह भी मानते थे कि हल आधारित खेती आर्यों द्वारा लाई गई, जिससे कृषि तकनीक में बड़ा बदलाव आया।

हालाँकि बाद के पुरातात्विक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हुआ है कि हड़प्पा काल में भी हल से खेती की जाती थी और यह तकनीक गैर-आर्य समाजों को भी ज्ञात थी। वैदिक साहित्य में हल के लिए प्रयुक्त शब्दों की उत्पत्ति भी गैर-आर्य मानी जाती है। इससे यह पता चलता है कि कृषि तकनीक का विकास एक ही समूह तक सीमित नहीं था। इसके बावजूद कोसाम्बी का मुख्य योगदान यह है कि उन्होंने कृषि तकनीक को सामाजिक परिवर्तन का मूल आधार माना।

कोसाम्बी के अनुसार जब गंगा घाटी में हल आधारित खेती और लोहे की तकनीक का प्रसार हुआ, तो उत्पादन बढ़ा और अधिशेष पैदा हुआ। इसके परिणामस्वरूप नगरों का विकास हुआ और जाति व्यवस्था के स्पष्ट रूप सामने आए। आज के इतिहासकार इस विकास को और व्यापक रूप में देखते हैं। वे मानते हैं कि इसमें फसलों के पैटर्न में बदलाव, विशेष रूप से चावल की खेती पर निर्भरता, अलग-अलग प्रकार की सिंचाई प्रणालियाँ, नई तकनीकों में श्रम का उपयोग और विभिन्न सामाजिक समूहों द्वारा इन संसाधनों पर नियंत्रण जैसे कारक भी शामिल थे।

कोसाम्बी पारंपरिक मार्क्सवादी इतिहास-लेखन से अलग दृष्टिकोण अपनाते हैं। वे प्रारंभिक भारतीय इतिहास पर बिना संशोधन के न तो एशियाई उत्पादन पद्धति और न ही दास उत्पादन पद्धति को लागू करते हैं। मार्क्स के अनुसार भारत में एशियाई उत्पादन पद्धति थी, जिसमें समाज स्थिर था, भूमि पर निजी स्वामित्व नहीं था, गाँव आत्मनिर्भर थे, व्यापार सीमित था और सिंचाई पर राज्य का नियंत्रण था। कोसाम्बी इस दृष्टिकोण को भारत के लिए अधूरा मानते हैं। वे बताते हैं कि यहाँ किरायेदार किसान और भूमि-स्वामी किसान दोनों मौजूद थे।

कोसाम्बी यह भी स्वीकार करते हैं कि गुप्त काल के बाद आत्मनिर्भरता में वृद्धि हुई, लेकिन समाज पूरी तरह जड़ नहीं हुआ। उनके अनुसार इतिहास-बोध की कमी और मिथकों की शक्ति ने व्यक्तिवाद को कमजोर किया, फिर भी उत्पादन की व्यवस्था इतनी स्थिर नहीं थी कि उसमें बदलाव संभव न हो। यदि समाज पूरी तरह स्थिर होता, तो सामंतवाद जैसी व्यवस्था विकसित नहीं हो सकती थी, क्योंकि सामंतवाद अपने भीतर विरोधाभास पैदा करता है।

पूर्व-आधुनिक भारत के संदर्भ में कोसाम्बी सामंती उत्पादन पद्धति को स्वीकार करते हैं, लेकिन वे इसे दो रूपों में समझाते हैं—ऊपर से सामंतवाद और नीचे से सामंतवाद। गुप्तोत्तर काल में भूमि अनुदानों की बढ़ती संख्या, जनजातियों का

जातियों में रूपांतरण, व्यापार और वस्तु उत्पादन में गिरावट, नगरों का पतन, सेना का विकेंद्रीकरण और संपत्ति का स्थानीय स्तर पर सिमटना—ये सभी ऊपर से सामंतवाद की विशेषताएँ थीं। इस काल में भक्ति आंदोलनों का भी प्रसार हुआ, जिसमें भक्ति और निष्ठा पर जोर दिया गया। कोसाम्बी इसे सामंती समाज की वैचारिक अभिव्यक्ति मानते हैं।

भूमि पर निजी संपत्ति के प्रश्न पर कोसाम्बी कहते हैं कि इसे भारतीय संदर्भ में अलग तरीके से समझना चाहिए। उनके अनुसार वास्तविक किसान प्रायः पूर्व-जनजातीय थे, जो भूमि को निजी संपत्ति नहीं, बल्कि रिश्तेदारी से जुड़ा क्षेत्र मानते थे। किसी खेत पर अधिकार होना समुदाय की सदस्यता का प्रमाण था, न कि पूर्ण व्यक्तिगत स्वामित्व। मुख्य शर्त केवल यह थी कि किसान राजा या भूमि-अनुदान प्राप्त व्यक्ति को नियमित रूप से कर देता रहे। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि पूरे भारत पर एक ही मॉडल लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि हर क्षेत्र की परिस्थितियाँ अलग थीं।

नीचे से सामंतवाद के उदाहरण कोसाम्बी मुख्यतः कश्मीर और राजस्थान से लेते हैं। इस अवस्था में राजनीतिक विकेंद्रीकरण था, तकनीक का स्तर कम था और उत्पादन मुख्य रूप से घर और गाँव की जरूरतों के लिए होता था, न कि बाजार के लिए। भूमि सामंतों के नियंत्रण में थी, जो सेवा के बदले भूमि रखते थे और जिनके पास स्थानीय स्तर पर न्यायिक या अर्ध-न्यायिक अधिकार भी होते थे। तकनीकी पिछड़ेपन के कारण अधिक उन्नत सैन्य तकनीक वाले आक्रमणकारियों के लिए उत्तरी भारत पर कब्जा करना आसान हो गया। शासक वर्ग बदलते रहे, लेकिन सामंती व्यवस्था की मूल प्रकृति में अधिक बदलाव नहीं आया और यह व्यवस्था औपनिवेशिक शासन के आने तक बनी रही।

इस प्रकार कोसाम्बी का सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण भारतीय इतिहास को एक गतिशील और परिवर्तनशील प्रक्रिया के रूप में समझने में मदद करता है। वे इतिहास को केवल राजाओं और युद्धों की कहानी नहीं मानते, बल्कि उसे उत्पादन, तकनीक, समाज और विचारधारा के आपसी संबंधों के रूप में देखते हैं। यही कारण है कि उनका दृष्टिकोण आज भी इतिहास के अध्ययन में अत्यंत उपयोगी और प्रासंगिक माना जाता है।

3.8. राजनीतिक व्यवस्था:

डी. डी. कोसाम्बी भारतीय इतिहास की राजनीतिक व्यवस्था को भी उसके आर्थिक और सामाजिक आधार से जोड़कर देखते हैं। उनके अनुसार मौर्य राजशाही एक मजबूत और व्यवहारिक राजनीतिक व्यवस्था थी, क्योंकि उसने उत्पादन और प्रशासन को आपस में जोड़ने का प्रयास किया था। कोसाम्बी का मानना है कि मौर्य राज्य ने गाँव की अर्थव्यवस्था को फैलाने के लिए शूद्र किसानों को सरकारी भूमि पर बसाया और युद्ध में पकड़े गए बंदियों को भी कृषि कार्य में लगाया। इस नीति से खेती का विस्तार हुआ और राज्य को नियमित कर प्राप्त होने लगा। इसी कारण वे यह तर्क देते हैं कि प्रारंभिक भारत में उत्पादन मुख्यतः गुलामी पर आधारित नहीं था, बल्कि नियंत्रित श्रम और कृषक समुदायों के माध्यम से संचालित होता था।

कोसाम्बी के अनुसार मौर्य साम्राज्य का पतन किसी एक राजनीतिक घटना का परिणाम नहीं था, बल्कि इसके पीछे गहरे आर्थिक कारण थे। वे मानते हैं कि मौर्य काल के अंत में आर्थिक संकट उत्पन्न हो गया था, हालाँकि इस संकट के स्वरूप

और कारणों पर विद्वानों में मतभेद हैं। कोसाम्बी दोहरे आर्थिक ढाँचे की ओर संकेत करते हैं, जिसमें एक ओर राज्य नियंत्रित अर्थव्यवस्था थी और दूसरी ओर निजी व्यापार और उत्पादन का क्षेत्र तेजी से बढ़ रहा था। इस असंतुलन ने आर्थिक दबाव पैदा किया और राज्य की संसाधनों पर पकड़ कमजोर पड़ने लगी। इसलिए मौर्य शासन का टिके न रह पाना आंशिक रूप से आर्थिक कारणों से जुड़ा हुआ था।

कोसाम्बी यह भी बताते हैं कि मौर्य काल और उसके बाद बौद्ध, जैन और अन्य धार्मिक संप्रदायों को व्यापारियों और कारीगरों का संरक्षण प्राप्त हुआ। यह संरक्षण कई बार शाही संरक्षण से भी अधिक स्थायी और प्रभावी साबित हुआ। व्यापारी वर्ग ने इन संप्रदायों को दान देकर न केवल धार्मिक संस्थाओं को मजबूत किया, बल्कि उन्हें समाज में गहराई से स्थापित भी किया। इससे यह स्पष्ट होता है कि धर्म और अर्थव्यवस्था के बीच घनिष्ठ संबंध था।

पंच-मार्क वाले सिक्कों का प्रचलन कोसाम्बी के अनुसार विकसित वस्तु उत्पादन और व्यापार का स्पष्ट संकेत है। इन सिक्कों से पता चलता है कि कारीगर और व्यापारी केवल हाशिए पर खड़े लोग नहीं थे, बल्कि वे शहरी समाज के सम्मानित सदस्य बन चुके थे। ऐसे सामाजिक परिवेश में उनका बौद्ध और जैन उपदेशकों से जुड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि ये उपदेशक एक सार्वभौमिक नैतिकता, अहिंसा और समानता का संदेश देते थे, जो व्यापारिक वर्ग की आवश्यकताओं और मूल्यों के अनुकूल था।

मौर्य काल के बाद, जब व्यापार और शहरीकरण का और अधिक विस्तार हुआ, तो कोसाम्बी यह कल्पना करते हैं कि बौद्ध संघ को दान देने वालों में गिल्डों और कारीगरों की भूमिका और भी बढ़ गई। व्यापारिक संघों ने मठों और विहारों को आर्थिक सहायता दी, जिससे बौद्ध धर्म का प्रसार दूर-दूर तक हुआ। इसी प्रक्रिया के साथ शहरी क्षेत्रों में व्यावसायिक जातियों का उदय हुआ, जो अपने पेशे और आर्थिक शक्ति के आधार पर समाज में एक विशिष्ट स्थान बनाने लगीं।

इस प्रकार कोसाम्बी के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक संरचना और धार्मिक विचार एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए थे। मौर्य राज्य की शक्ति, उसका पतन, और बाद के काल में धर्मों का प्रसार—ये सभी प्रक्रियाएँ उस समय की उत्पादन प्रणाली, व्यापारिक विस्तार और सामाजिक बदलावों से सीधे जुड़ी हुई थीं। यही दृष्टिकोण कोसाम्बी की इतिहास-लेखन पद्धति को राजनीतिक घटनाओं के सीमित वर्णन से आगे ले जाकर एक व्यापक सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण में बदल देता है।

3.9. मिथक और वास्तविकता:

डी. डी. कोसाम्बी की पुस्तक 'मिथक और वास्तविकता' भारतीय इतिहास और संस्कृति को समझने का एक अनोखा प्रयास है। इस पुस्तक में शामिल निबंध केवल पुस्तकों या ग्रंथों पर आधारित नहीं हैं, बल्कि इनके पीछे पुस्तकालयों में उपलब्ध प्राचीन स्रोतों की गहरी पढ़ाई के साथ-साथ स्वयं कोसाम्बी द्वारा किया गया सावधानीपूर्ण फील्ड वर्क भी है। यही कारण है कि उनका यह काम अन्य इतिहासकारों से अलग दिखाई देता है। वे लिखित स्रोतों, पुराणों, महाकाव्यों

और साहित्यिक ग्रंथों को लोकपरंपराओं, स्थापत्य, तीर्थस्थलों और भौतिक अवशेषों के साथ जोड़कर देखते हैं। इस पद्धति से वे भारतीय संस्कृति की उत्पत्ति और विकास पर नई और मौलिक रोशनी डालते हैं।

कोसाम्बी का मुख्य उद्देश्य यह दिखाना है कि मिथकों को केवल कल्पना या धार्मिक विश्वास मानकर छोड़ नहीं देना चाहिए। उनके अनुसार, मिथकों के पीछे सामाजिक, आर्थिक और ऐतिहासिक यथार्थ छिपा होता है। यदि उन्हें सही संदर्भ में समझा जाए, तो वे हमें अतीत की वास्तविक स्थितियों की जानकारी दे सकते हैं। इसी कारण वे नए आँकड़ों और तार्किक व्याख्याओं के माध्यम से यह बताते हैं कि भारतीय समाज और संस्कृति कैसे धीरे-धीरे विकसित हुई।

इस पुस्तक में कोसाम्बी ने भारत विद्या (इंडोलॉजी) से जुड़े कई महत्वपूर्ण और जटिल प्रश्नों को उठाया है और उनके उत्तर खोजने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए, उन्होंने कार्ले की गुफाओं की तिथि निर्धारित करने की समस्या पर विचार किया और स्थापत्य, शिलालेखों तथा ऐतिहासिक संदर्भों के आधार पर उसके विकास को समझाने की कोशिश की। इसी तरह, कालिदास के नाटकों के सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह बताया कि ये रचनाएँ किसी काल्पनिक संसार की उपज नहीं हैं, बल्कि अपने समय की सामाजिक संरचनाओं और मूल्यों को प्रतिबिंबित करती हैं।

कोसाम्बी ने पंढरपुर की प्रसिद्ध तीर्थयात्रा के महत्व को भी केवल धार्मिक आस्था तक सीमित नहीं रखा। उन्होंने इसके सामाजिक और आर्थिक पक्षों पर ध्यान देते हुए दिखाया कि कैसे यह तीर्थयात्रा विभिन्न क्षेत्रों और समुदायों को जोड़ने का माध्यम बनी और क्षेत्रीय संस्कृति के विकास में उसकी अहम भूमिका रही। इसी तरह, गोवा के भारत के साथ पुनः एकीकरण के संघर्ष को उन्होंने केवल राजनीतिक घटना नहीं माना, बल्कि उसके पीछे मौजूद आर्थिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कारणों का भी विश्लेषण किया।

इस प्रकार, 'मिथक और वास्तविकता' में कोसाम्बी यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय इतिहास और संस्कृति को समझने के लिए मिथकों, परंपराओं और लोकविश्वासों को वास्तविक सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से जोड़कर देखना आवश्यक है। उनकी यह पुस्तक उन सभी लोगों के लिए अत्यंत उपयोगी है जो भारतीय अतीत को वैज्ञानिक, तार्किक और समग्र दृष्टि से समझना चाहते हैं।

3.10 . प्राचीन भारत में जाति:

प्राचीन भारत में जाति व्यवस्था के बारे में डी. डी. कोसाम्बी ने अपनी पुस्तक 'The Culture and Civilization of Ancient India' में विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार, भारतीय समाज को सही ढंग से समझने के लिए ग्रामीण और जनजातीय समाज का अध्ययन बहुत ज़रूरी है, क्योंकि भारतीय समाज की सबसे प्रमुख और मज़बूत विशेषता—विशेष रूप से गाँवों में—जाति व्यवस्था है। जाति का अर्थ है समाज का कई छोटे-छोटे समूहों में बँटा होना, जो एक ही स्थान पर रहते हुए भी अक्सर सामाजिक रूप से एक-दूसरे के साथ घुलते-मिलते नहीं हैं।

कोसाम्बी बताते हैं कि परंपरागत रूप से अलग-अलग जातियों के लोग आपस में विवाह नहीं कर सकते थे, क्योंकि धर्म और सामाजिक नियम इसकी अनुमति नहीं देते थे। हालाँकि आज क़ानून ने इस मामले में पूरी स्वतंत्रता दे दी है। कोसाम्बी के अनुसार यह बदलाव आधुनिक पूँजीवादी (बुर्जुआ) व्यवस्था के कारण संभव हुआ, जिसके चलते शहरों में जाति का प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगा है, यद्यपि राजनीति और अर्थव्यवस्था से जुड़े गुटों के रूप में यह अब भी कहीं-कहीं दिखाई देता है।

ग्रामीण समाज में आज भी जाति की पदानुक्रम (ऊँच-नीच) साफ़ दिखाई देती है। अधिकांश किसान नीची जाति के लोगों के हाथ का बना भोजन या पानी नहीं लेते। व्यवहार में जातियों और उपजातियों की संख्या हज़ारों में है, जबकि सैद्धांतिक रूप से केवल चार वर्ण माने जाते हैं—ब्राह्मण (पुरोहित), क्षत्रिय (योद्धा), वैश्य (व्यापारी) और शूद्र (सेवक या श्रमिक वर्ग)। कोसाम्बी का कहना है कि यह वर्ण-व्यवस्था काग़ज़ी तौर पर वर्गों जैसी लगती है, लेकिन वास्तविक जातियाँ और उपजातियाँ अलग-अलग जातीय और जनजातीय समूहों से विकसित हुई हैं।

कोसाम्बी यह भी स्पष्ट करते हैं कि किसी स्थानीय जाति की सामाजिक हैसियत उसके आर्थिक स्थान पर निर्भर करती है। किसी जाति की स्थिति उस क्षेत्र के साझा बाज़ार में उसकी भूमिका और आर्थिक शक्ति से तय होती है। उदाहरण के तौर पर, बिहार का एक जुलाहा यदि अचानक महाराष्ट्र के किसी गाँव में चला जाए, तो वहाँ उसे अपने आप कोई निश्चित सामाजिक दर्जा नहीं मिल जाएगा। लेकिन बिहार में, जिन गाँवों के साथ उसका रोज़मर्रा का संपर्क है, वहाँ उसकी जाति की स्थिति पहले से तय होती है। इस तरह, जाति की सामाजिक हैसियत काफी हद तक आर्थिक शक्ति से जुड़ी होती है।

एक ही जाति की स्थिति अलग-अलग क्षेत्रों में अलग हो सकती है। यदि यह अंतर लंबे समय तक बना रहता है, तो उसी जाति की अलग-अलग शाखाएँ अपने आपको अलग जातियाँ मानने लगती हैं और आपस में विवाह भी बंद कर देती हैं। सामान्य रूप से देखा जाए तो जैसे-जैसे कोई समूह आर्थिक पैमाने पर नीचे जाता है, वैसे-वैसे उसकी सामाजिक स्थिति भी नीचे चली जाती है।

जाति व्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर आज भी कुछ ऐसे समूह मिलते हैं जो लगभग पूरी तरह जनजातीय अवस्था में हैं और जिनका जीवन कभी भोजन-संग्रह (शिकार या जंगल से खाने की चीज़ें जुटाने) पर आधारित था। इनके आसपास का समाज अब खेती और खाद्य उत्पादन करने वाला है। ऐसे में इन बहुत निचले स्तर के समूहों के लिए भोजन-संग्रह धीरे-धीरे भीख माँगने या चोरी जैसे कामों में बदल गया। ब्रिटिश शासन के दौरान ऐसे समूहों को 'आपराधिक जनजाति' कहा गया, क्योंकि वे अक्सर अपने कबीलाई नियमों के बाहर की क़ानून-व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते थे।

कोसाम्बी के अनुसार, भारतीय समाज की यह सामाजिक परतें (स्तरीकरण) भारतीय इतिहास की कई जटिलताओं को समझने में मदद करती हैं, बशर्ते उनका अध्ययन बिना किसी पूर्वाग्रह के ज़मीनी स्तर पर किया जाए। वे यह भी दिखाते हैं कि अनेक जातियों की निम्न सामाजिक और आर्थिक स्थिति का कारण यह रहा है कि उन्होंने लंबे समय तक खेती और हल-आधारित कृषि को अपनाने से इंकार किया। सबसे निचली जातियों में आज भी कई जनजातीय रीति-रिवाज

और मिथक सुरक्षित हैं। थोड़ा ऊपर के स्तर पर हमें ऐसे समूह मिलते हैं जहाँ ये धार्मिक परंपराएँ और कथाएँ धीरे-धीरे बदल रही हैं और दूसरी समान परंपराओं के साथ घुल-मिल रही हैं। इस तरह, कोसाम्बी जाति व्यवस्था को केवल धार्मिक व्यवस्था नहीं, बल्कि ऐतिहासिक, आर्थिक और सामाजिक विकास की प्रक्रिया के रूप में समझते हैं।

3.11. गाँव और ग्रामीण जीवन:

डी. डी. कोसाम्बी ने अपने लेखों में न केवल जाति पर बल दिया है, बल्कि गाँव के जीवन पर भी खास ध्यान दिया है। उनके अनुसार भारत आज भी एक किसान प्रधान देश है। कृषि विकास व्यापक है, लेकिन तकनीक अभी भी बहुत प्राचीन है। दो हजार वर्षों की खेती के बाद अधिकांश भूमि अधिक चराई और अधिक खेती के कारण थक गई है। प्रति एकड़ पैदावार बहुत कम है क्योंकि खेती के तरीके primitive हैं और भूमि के भूखंड इतने छोटे हैं कि वे आर्थिक रूप से प्रभावी नहीं हैं।

भूमि की मुख्य विशेषता परिवहन की कमी है। इसका मतलब यह है कि अधिकांश उत्पादन स्थानीय है और स्थानीय स्तर पर ही उपयोग किया जाता है। यह पिछड़ा, असक्षम और स्थानीय उत्पादन ही कई पुराने जनजातीय समूहों को जीवित रहने की अनुमति देता है, हालांकि वे विलुप्त होने की कगार पर हैं। पूरा ग्रामीण अर्थव्यवस्था मौसमी बारिश यानी मानसून पर निर्भर है। मौसम के क्रम का बहुत महत्व है, जबकि गाँव में वर्ष-दर-वर्ष बहुत कम स्थायी बदलाव होते हैं। यही कारण है कि विदेशियों को भारतीय गाँव "समयहीन" प्रतीत होते हैं। उदाहरण के तौर पर, भड़हुत की मूर्तियों में 150 ई.पू. के बैल गाड़ी और गाँव के झोपड़े या कुषाणकालीन 200 ई.पू. की हल और हलवाहक की मूर्तियाँ अगर अचानक आधुनिक भारतीय गाँव में दिखाई दें, तो किसी को अजीब नहीं लगेगा।

हालांकि, यह भूलना आसान है कि एक गाँव की अर्थव्यवस्था का निर्माण, जहाँ निश्चित भूखंडों पर हल से खेती की जाती है, उत्पादन के साधनों में एक बड़ी प्रगति को दर्शाता है। इस प्रक्रिया में उत्पादन के संबंधों को भी भोजन-संग्रह के स्तर की तुलना में अधिक जटिल होना पड़ा।

आधुनिक भारतीय गाँव गरीबी और असहायता की भयावह छवि प्रस्तुत करता है। अधिकांश गाँवों में कोई दुकान नहीं होती, केवल कुछ गाँवों में जो बाज़ार केंद्र के रूप में सेवा देते हैं। सार्वजनिक भवन बहुत कम होते हैं, आमतौर पर एक छोटा मंदिर ही हो सकता है। गाँव में उपभोक्ता वस्तुएँ कहीं-कहीं से आने वाले व्यापारी या साप्ताहिक हाट से खरीदी जाती हैं। गाँव के उत्पादों की बिक्री अक्सर मिडिलमैन और साहूकारों के हाथ में होती है, जिनका ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर कब्ज़ा और इसके परिणामस्वरूप किसानों का क़र्ज़दार होना एक गंभीर समस्या है।

मानसून खत्म होने के बाद अधिकांश गाँवों में पानी की कमी होने लगती है; शुद्ध पेयजल हमेशा उपलब्ध नहीं होता। भूख और बीमारी गाँवों में आम हैं। चिकित्सा सुविधा और स्वच्छता की कमी गाँवों की पारंपरिक उदासीनता को सबसे स्पष्ट रूप से दिखाती है, जो देश की राजनीतिक अर्थव्यवस्था में हमेशा एक मूलभूत कारक रही है। यह दमन के लिए

सुरक्षित आधार भी प्रदान करती है। गरीब और उपेक्षित लोगों से लिया गया अधिशेष आज भी भारतीय संस्कृति और सभ्यता की भौतिक आधारशिला बनाता है।

सामान्यतः गाँव की गरीबी की छवि एक समान लगती है, लेकिन असल में इसमें काफी भिन्नता है। अधिकांश किसान छोटे भूखंडों के मालिक हैं। कुछ आत्मनिर्भर हैं। कुछ लोग शक्तिशाली हो सकते हैं, यानी कुलक वर्ग में आते हैं, जो वर्तमान भूमि कानूनों से मजबूत हो रहा है। ज़्यादातर बड़े भूखंड ऐसे लोगों के पास हैं जो किसान नहीं हैं और ज़मीन पर काम नहीं करते। बड़े जमींदार अक्सर अनुपस्थित रहते हैं; उनकी ज़मीन के अधिकार आम तौर पर सामंतकाल से आए हैं। ब्रिटिश शासन के आगमन के समय, इनमें से कई ने सामंती दायित्व छोड़कर बुर्जुआ जमींदार बनना पसंद किया। ब्रिटिशों ने सभी भूमि के अधिकार दर्ज किए और कर नकद में तय किया। इसका मतलब यह है कि आज कोई भी गाँव पूरी तरह आत्मनिर्भर नहीं हो सकता। यहां तक कि सबसे अलग गाँव को भी कुछ न कुछ बेचना पड़ता है, न केवल कपड़े और घरेलू सामान खरीदने के लिए बल्कि कर या किराया चुकाने के लिए भी।

इसके अलावा, गाँव पूरी तरह आत्मनिर्भर नहीं हो सकते। अधिकांश भारत में कपड़ा शारीरिक आवश्यकता नहीं है, बल्कि सामाजिक आवश्यकता बन गया है। लेकिन नमक हमेशा जरूरी रहा है; कृषि शुरू करने से पहले कुछ मात्रा में धातुओं का होना आवश्यक था। ये दोनों आवश्यकताएँ अधिकांश गाँवों में उत्पन्न नहीं होतीं और बाहर से प्राप्त करनी पड़ती हैं। इसलिए, भले ही गाँव समयहीन प्रतीत होता है, फिर भी यह वस्तु उत्पादन और अब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के ढांचे में बंधा हुआ है।

कुछ उत्पादन के लिए विशेष तकनीकी ज्ञान की आवश्यकता होती है। भारतीय गाँव में बहुत कम धातु का उपयोग होता है, लेकिन मिट्टी के बर्तन की जरूरत होती है, इसलिए गाँव में बर्तन बनाने वाला होना चाहिए। इसी तरह, हल बनाने और उपकरण सुधारने के लिए लोहा बनाने वाला, घर बनाने और साधारण हल बनाने के लिए बढ़ई की आवश्यकता होती है। गाँव में पंडित या ब्राह्मण भी मौजूद होना चाहिए, जो आवश्यक धार्मिक कार्य संपन्न करे। कुछ पेशे जैसे नाई या मृत जानवरों का चमड़ा उतारने का काम नीच माने जाते हैं, लेकिन इनकी जरूरत आवश्यक है। इस तरह, हर पेशा के लिए गाँव में अलग जाति के लोग मौजूद होते हैं। सामान्यतः, प्रत्येक पेशा एक जाति बनाता है, जो भारतीय समाज में मध्यकालीन गिल्ड का विकल्प है।

3.12. जीवित प्रागितिहास:

डी. डी. कोसंबी ने भारतीय इतिहास के अध्ययन में जनजातियों को एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटक माना। उनके अनुसार, भारतीय इतिहास का पूरा क्रम इस बात को दर्शाता है कि जनजातीय तत्व धीरे-धीरे सामान्य समाज में घुल-मिल रहे हैं। उन्होंने "जीवित प्रागितिहास" नामक ऐतिहासिक विधि की शुरुआत की, जिसमें यह विचार रखा गया कि कई भारतीय जनजातीय समुदायों ने अपनी प्रथाओं, रीति-रिवाजों और अनुष्ठानों के माध्यम से प्रागैतिहासिक जीवन शैली को आज

भी जीवित रखा है। इसका कारण यह था कि शिकार और इकट्ठा करने के काम के चलते उनके पास भोजन की प्रचुरता थी, जिससे उनका जीवन स्थिर और लंबे समय तक जीवित रह सका।

कोसंबी ने जाति नामों और उनके सामाजिक व्यवहार का अध्ययन कर निष्कर्ष निकाला कि आज के कई जातिगत नियम, जैसे कि अंतर-जातीय विवाह पर प्रतिबंध, मूल रूप से प्रागैतिहासिक भोजन इकट्ठा करने वाले समाजों में नियमों और नियंत्रण के रूप में विकसित हुए थे। इसके लिए उन्होंने विशेष रूप से दक्कन पठार के धनगर और पारधी जैसे समुदायों के लंबे समय तक किए गए नृवंशविज्ञान अध्ययनों का सहारा लिया।

उन्होंने हल-खेती और प्राचीन स्लैश-एंड-बर्न तकनीकों के बीच समानताएं पाईं और इतिहास, पुरातत्व और मानव विज्ञान के बीच अनुशासनात्मक सीमाओं को धुंधला कर दिया। कोसंबी का यह दृष्टिकोण प्रामाणिक तथ्यों पर आधारित था और यह न केवल मार्क्सवादी सिद्धांत और व्यवहार को समझने में मदद करता था, बल्कि भारतीय धर्मों, भाषाओं और अनुष्ठानों की गहन समझ भी देता था। उनके विश्लेषण से प्रारंभिक मध्यकालीन भारत में सामंतवाद की प्रकृति और सामाजिक संरचनाओं का भी स्पष्ट चित्र सामने आता है।

इस प्रकार, कोसंबी की "जीवित प्रागितिहास" पद्धति हमें यह समझने में मदद करती है कि प्राचीन भारतीय समाज की जड़ों में आज भी कई प्रथाएं और रीति-रिवाज जीवित हैं, और ये समाज की संरचना और विकास को गहराई से समझने में सहायक हैं।

3.12 सारांश

डी. डी. कोसांबी भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र के एक बहुआयामी विद्वान थे, जिन्होंने 1907 में गोवा में जन्म लिया। उन्होंने गणित, सांख्यिकी, पुरातत्व और मानवशास्त्र का उपयोग कर भारतीय समाज और इतिहास का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। उनकी दृष्टि मार्क्सवादी थी, लेकिन उन्होंने इसे भारतीय परिस्थितियों के अनुसार ढाला। उन्होंने उत्पादन पद्धति को समाज, परिवार, विवाह और जाति संरचनाओं के मूल आधार के रूप में देखा और कृषि, अधिशेष उत्पादन व तकनीक के सामाजिक प्रभावों पर जोर दिया। कोसांबी ने जाति, गाँव और ग्रामीण जीवन का गहन अध्ययन किया और इसे सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भ से जोड़ा। उन्होंने मिथक, लोकपरंपरा और ऐतिहासिक स्रोतों का विश्लेषण कर "मिथक और वास्तविकता" की समझ दी। उनकी "जीवित प्रागितिहास" पद्धति ने यह दिखाया कि जनजातीय समुदायों में प्राचीन जीवनशैली और रीति-रिवाज आज भी जीवित हैं। कोसांबी का दृष्टिकोण इतिहास को केवल राजाओं और युद्धों की कहानी नहीं मानता, बल्कि इसे समाज, अर्थव्यवस्था, राजनीति और विचारधारा के आपसी संबंधों के रूप में प्रस्तुत करता है। उनका योगदान भारतीय सामाजिक इतिहास को वैज्ञानिक, बहुआयामी और जीवंत दृष्टि प्रदान करता है।

3.13 शब्दावली

1.	अधिशेष उत्पादन	उत्पादन का वह हिस्सा जो स्वयं उपभोग से अधिक होता है और समाज में वितरण या व्यापार के लिए उपलब्ध रहता है।
2.	आर्थिक संरचना	समाज की उत्पादन पद्धति, संसाधनों का वितरण और श्रम संगठन का ढाँचा।
3.	जाति	भारतीय समाज में सामाजिक समूहों का विभाजन, जो जन्म, पेशा और परंपरा के आधार पर निर्धारित होता है।
4.	ग्राम	ग्रामीण क्षेत्र का मूल इकाई, जहाँ कृषि और स्थानीय उत्पादन आधारित अर्थव्यवस्था होती है।
5.	ग्राम्य अर्थव्यवस्था	गाँव की उत्पादन और उपभोग प्रणाली, जिसमें कृषि, कुटीर उद्योग और स्थानीय व्यापार शामिल हैं।
6.	जीवित प्रागितिहास	वह अवधारणा जिसमें प्राचीन और प्रागैतिहासिक सामाजिक प्रथाएँ आज भी जनजातीय और ग्रामीण समाज में जीवित हैं।
7.	मिथक	धार्मिक या सांस्कृतिक कथाएँ, जो समाज के विश्वास, परंपरा और ऐतिहासिक घटनाओं का प्रतीक होती हैं।
8.	सांस्कृतिक परंपरा	किसी समाज की रीति-रिवाज, विश्वास, कला, साहित्य और सामाजिक व्यवहार की व्यवस्था।
9.	सामंतवाद	भूमि आधारित उत्पादन प्रणाली, जिसमें भूमि स्वामी और श्रमिक के बीच सेवा और अधिकार का संबंध होता है।
10.	सामाजिक संरचना	समाज के विभिन्न वर्गों, समूहों और उनके आपसी संबंधों का संगठन।
11.	सिंधु घाटी सभ्यता	प्राचीन भारतीय सभ्यता, जो मुख्य रूप से कृषि और शहरी केंद्रों पर आधारित थी।
12.	उत्पादन पद्धति	समाज में वस्तु उत्पादन और वितरण का तरीका, जिसमें श्रम, उपकरण और संसाधन शामिल हैं।
13.	संस्कृतीकरण	स्थानीय या जनजातीय परंपराओं को ब्राह्मण या उच्च जाति की परंपराओं में शामिल करना।

3.14 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. डी. डी. कोसांबी का जन्म, शिक्षा और प्रारंभिक जीवन के बारे में बताइए और उनके भारतीय इतिहास अध्ययन पर इसके प्रभाव की व्याख्या कीजिए।

2. कोसांबी की उत्पादन पद्धति (Mode of Production) की दृष्टि से भारतीय समाज में सामाजिक संरचनाओं

और जाति व्यवस्था के विकास का विश्लेषण कीजिए।

3. कोसांबी ने भारतीय इतिहास में "जीवित प्रागितिहास" की अवधारणा क्यों दी? इसके महत्व को स्पष्ट कीजिए।
4. विवाह और परिवार की संस्था को समझने में कोसांबी ने मानवशास्त्रीय दृष्टिकोण को कैसे लागू किया?
5. कोसांबी का सामाजिक-आर्थिक दृष्टिकोण और पारंपरिक मार्क्सवादी दृष्टिकोण में क्या अंतर था?
6. मिथक और वास्तविकता के अध्ययन में कोसांबी की पद्धति और उनका योगदान समझाइए।
7. प्राचीन रत में जाति व्यवस्था के उद्भव और विकास पर कोसांबी के विचारों का वर्णन कीजिए।
8. कोसांबी ने गाँव के जीवन और ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अध्ययन कैसे किया? उनके निष्कर्षों को संक्षेप में समझाइए।
9. मौर्य काल में राजनीतिक व्यवस्था और आर्थिक संरचना के बीच संबंध पर कोसांबी का दृष्टिकोण स्पष्ट कीजिए।

3.15 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. कोसांबी ने इतिहास का अध्ययन किस दृष्टिकोण से किया?
2. "जीवित प्रागितिहास" का क्या अर्थ है?
3. हल आधारित कृषि का भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा?
4. कोसांबी ने विवाह और परिवार की संस्था को कैसे देखा?
5. उनके अनुसार उत्पादन पद्धति का समाज पर क्या प्रभाव होता है?
6. कोसांबी के अनुसार मिथकों का इतिहास अध्ययन में क्या महत्व है?
7. भारतीय जाति व्यवस्था के विकास में आर्थिक कारक का क्या योगदान है?
8. कोसांबी ने गाँव की अर्थव्यवस्था के अध्ययन में किन विशेष बातों पर ध्यान दिया?
9. कोसांबी का मार्क्सवादी दृष्टिकोण भारतीय इतिहास के अध्ययन में किस प्रकार अनुकूलित हुआ?

3.16 संदर्भ ग्रंथ सूची (Bibliography / References)

Kosambi, D. D. (1961) The Culture and Civilisation of Ancient India in Historical Outline. Bombay: Routledge & Kegan Paul.

Kosambi, D. D. (1975). An Introduction to the Study of Indian History. Bombay: Popular Prakashan.

Kosambi, D. D. (1978)। History and Society: Essays in Historical Method. Bombay: Popular Prakashan.

Kosambi, D. D. (1985)। संस्कृति और सभ्यता: प्राचीन भारत। पुणे: राष्ट्रीय प्रकाशन।

Kosambi, D. D. (1965). India: A Study in Sociology. Bombay: Popular Prakashan.

Thapar, R. (1992). Early India: From the Origins to AD 1300. New Delhi: University of California Press.

Ghurye, G. S. (1963). Caste and Race in India. Bombay: Popular Prakashan.

Sharma, R. S. (1983). Indian Feudalism. Calcutta: Orient Longman.

Dube, S. C. (1955). Indian Village. London: Routledge & Kegan Paul.

Majumdar, R. C. (1967). The History and Culture of the Indian People. Bombay: Bharatiya Vidya Bhavan.

Kosambi, D. D. (1962). Myth and Reality: Studies in the Formation of Indian Culture. Bombay: Popular Prakashan.

Kosambi, D. D. (1968). The Roman, the Ganga and the Godavari. Bombay: Indian Historical Review.

Kosambi, D. D. (1956). The Archaeology of India: New Methods and Approaches. Bombay: TIFR Publications.

Thapar, R. (2003). The Penguin History of Early India: From the Origins to AD 1300. New Delhi: Penguin Books.

Irfan Habib (1976). Medieval India: Society, Economy and Culture. Delhi: People's Publishing House.

Chakravarti, R. (1988). Trade and Urbanization in Ancient India. Delhi: Munshiram Manoharlal. Singh, U. (2008). A History of Ancient and Early Medieval India. Delhi: Pearson. Kosambi, D. D. (1969). Culture, History and Society: Selected Essays. Bombay: Popular Prakashan.

Thapar, R. (2000). Interpreting Early India. Delhi: Oxford University Press.

Dandekar, R. N. (1975). Economic Life in Ancient India. Poona: Deccan College.

Kosambi, D. D. (1953). The Social Structure of Ancient India. Bombay: Popular Prakashan. Basu, A. (1985). Archaeology and Society in Ancient India. Calcutta: Indian Studies Series. Kosambi, D. D. (1960). The Economic History of India: Early and Medieval Periods. Bombay: TIFR Publications.

Dube, S. C. (1969). Social Anthropology and Indian Society. New Delhi: National Book Trust. Kosambi, D. D. (1973). Myth, Society and History in India. Bombay: Popular Prakashan.

इकाई - 4

रोमिला थापर (Romila Thapar)

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 इतिहास एक सामाजिक विज्ञान के रूप में:

4.4. जाति, वंश और सामाजिक संरचना का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

4.5 वंश से राज्य तक : राजनीतिक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

4.6 धर्म एक सामाजिक संस्था के रूप में

4.7 लिंग, परिवार और हाशिए के समुदाय:

4.8. इतिहास-लेखन और सामाजिक विचार धारा

4.9 सारांश

4.10 निबंधात्मक प्रश्न

4.11 लघु उत्तरीय प्रश्न:

4.12 शब्दावली

4.13 संदर्भ सूची

4.1. प्रस्तावना

रोमिला थापर का जन्म 1931 में भारत में एक जाने-माने पंजाबी परिवार में हुआ था और उन्होंने अपना बचपन देश के अलग-अलग हिस्सों में बिताया, क्योंकि उनके पिता उस समय सेना में थे। उन्होंने अपनी पहली डिग्री भारत में पंजाब यूनिवर्सिटी से और अपनी डॉक्टरेट 1958 में लंदन यूनिवर्सिटी से हासिल की। उन्होंने लंदन यूनिवर्सिटी, दिल्ली यूनिवर्सिटी और जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी में प्राचीन भारतीय इतिहास पढ़ाया है।रोमिल थापर ऑक्सफोर्ड के लेडी

मार्गरिट हॉल में मानद फेलो भी थीं, और संयुक्त राज्य अमेरिका में कॉर्नेल यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर-एट-लार्ज रही हैं। वह वर्तमान में नई दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू यूनिवर्सिटी में इतिहास की एमेरिटस प्रोफेसर हैं।

रोमिला थापर प्राचीन भारत की इतिहासकार के रूप में व्यापक रूप से जानी जाती हैं, लेकिन उनका संपूर्ण कार्य सामाजिक विज्ञानों, विशेष रूप से समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र से गहराई से जुड़ा हुआ है। उन्होंने साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों स्रोतों के सबूतों के साथ समान समाजों का अध्ययन करने के लिए तुलनात्मक पद्धति का भी इस्तेमाल किया है। अन्य स्रोतों में भाषाई, नृवंशविज्ञान और इंडोलॉजी के अन्य क्षेत्र शामिल हैं।थापर केवल राजाओं, राजवंशों और युद्धों के अध्ययन की सूची बनाने से संतुष्ट नहीं हैं; बल्कि वे यह जानने का प्रयास करती हैं कि प्राचीन भारतीय समाज जाति, रिश्तेदारी, परिवार, अर्थव्यवस्था, धर्म और सत्ता के माध्यम से किस प्रकार संगठित था और समय के साथ इन स्वरूपों में कैसे परिवर्तन आए। लाइब्रेरी ऑफ कांग्रेस का कहना है कि उन्होंने "भारत की समृद्ध प्राचीन सभ्यता के अध्ययन को आधुनिक सामाजिक विज्ञानों से उत्पन्न होने वाली जांच पद्धतियों और वैचारिक ढांचों के लिए खोल दिया", जिससे यह स्पष्ट होता है कि वे केवल राजनीतिक घटनाओं का वर्णन करने के बजाय समाज, संरचना और परिवर्तन जैसी अवधारणाओं पर कार्य करती हैं। अपने प्रमुख लेखन में, थापर सामाजिक स्तरीकरण, राज्य निर्माण, विचारधारा और रोजमर्रा के जीवन का अन्वेषण करने के लिए समाजशास्त्र और मानवशास्त्र से लिए गए विचारों और विधियों का उपयोग करती हैं, जिससे प्रारंभिक भारतीय इतिहास विशुद्ध रूप से राजनीतिक या शाब्दिक वर्णन के बजाय "सामाजिक इतिहास" का एक रूप बन जाता है। इस दृष्टिकोण के कारण, कई विद्वान उन्हें प्राचीन भारतीय इतिहास को एक संकीर्ण, पाठ-आधारित भारतविज्ञान क्षेत्र से आधुनिक सामाजिक विज्ञान अनुशासन में परिवर्तित करने वाली विद्वान के रूप में देखते हैं।

4.2. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात विद्यार्थी—

- रोमिला थापर ने इतिहास की एक सामाजिक विज्ञान के रूप में व्याख्या कैसे की है को समझ सकेंगे।
- प्राचीन भारतीय इतिहास में जाति: वंश से सत्ता संरचना पर रोमिला थापर के दृष्टिकोण को समझ सकेंगे ।
- भारतीय इतिहास के वंश से राज्य तक के विकास पर रोमिला थापर के समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण को समझ सकेंगे ।
- रोमिला थापर ने धर्म को आध्यात्मिक घटना से अधिक सामाजिक संस्था के रूप में स्पष्ट किया हैं को समझ सकेंगे ।
- इतिहास और समाजशास्त्र के अंतर्संबंध का विश्लेषण कर सकेंगे।
- समकालीन समाज में इतिहास-लेखन की भूमिका और उसके सामाजिक -राजनीतिक निहितार्थों को समझ सकेंगे।

4.3. इतिहास एक सामाजिक विज्ञान के रूप में

रोमिला थापर उस पीढ़ी की इतिहासकार हैं जिन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास को केवल इंडोलॉजी—अर्थात् शास्त्रीय ग्रंथों, धर्मग्रंथों और संस्कृत साहित्य के भाषिक व दार्शनिक अध्ययन—तक सीमित न रखकर उसे एक सामाजिक विज्ञान के रूप में पुनर्परिभाषित किया। परंपरागत इंडोलॉजिकल दृष्टिकोण में इतिहास को अक्सर राजवंशों, तिथियों, युद्धों और धार्मिक ग्रंथों की व्याख्या तक सीमित कर दिया जाता था। इसके विपरीत, थापर का प्रयास इतिहास को समाज की आंतरिक संरचनाओं, सत्ता संबंधों, वर्ग विभाजन, विचारधाराओं और ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं से जोड़ने का रहा है।

इस दृष्टिकोण के निर्माण में वे विशेष रूप से डी. डी. कोसंबी की "संयुक्त पद्धति" (Combined Method) से प्रभावित रहीं। कोसंबी ने इतिहास को केवल पाठ-आधारित अध्ययन के बजाय भौतिक संस्कृति, पुरातत्व, सिक्कों, शिलालेखों और सामाजिक संरचना के विश्लेषण से जोड़ने पर बल दिया। इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए थापर ने इतिहास, समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, पुरातत्व, भाषाविज्ञान और इंडोलॉजी को एक समग्र (interdisciplinary) ढाँचे में समाहित किया। इस प्रकार, उनका इतिहास-लेखन एक बहुआयामी सामाजिक विज्ञानात्मक अध्ययन बन जाता है।

थापर की पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वे वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों (रामायण-महाभारत) और धर्मशास्त्रों को समाज से अलग किसी पवित्र, शाश्वत या दैवी साहित्य के रूप में नहीं देखतीं। इसके बजाय, वे इन ग्रंथों को ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर पढ़ती हैं और उनमें निहित सामाजिक संस्थाओं, वर्ग संघर्षों, वर्ण-व्यवस्था, लैंगिक संबंधों, सत्ता संरचनाओं और विचारधाराओं का विश्लेषण करती हैं। उनके लिए ये ग्रंथ समाज के भीतर चल रही प्रक्रियाओं के दस्तावेज़ (social evidence) हैं, न कि केवल धार्मिक आस्थाओं के प्रतीक।

यह दृष्टिकोण उन्हें मिथक और इतिहास के बीच एक सृजनात्मक संवाद स्थापित करने में सक्षम बनाता है। थापर के अनुसार, मिथक केवल काल्पनिक कथाएँ नहीं होते, बल्कि वे समाज की सामूहिक चेतना, सत्ता के औचित्य, सामाजिक नियंत्रण और सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिबिंबित करते हैं। इसी कारण वे मिथकों, अनुष्ठानों और धार्मिक कथाओं को प्राचीन समाज की वास्तविक कार्यप्रणाली को समझने का महत्वपूर्ण साधन मानती हैं।

रोमिला थापर के इस योगदान को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी मान्यता मिली है। क्लुज पुरस्कार (Kluge Prize) की प्रशस्ति में यह विशेष रूप से उल्लेख किया गया कि उन्होंने लगभग दो हजार वर्षों के भारतीय इतिहास के संदर्भ में "सामाजिक विकास के बारे में नए प्रश्न" उठाए। यह प्रशस्ति इस बात को रेखांकित करती है कि उनका कार्य केवल वर्णनात्मक इतिहास नहीं, बल्कि सामाजिक विज्ञान की शैली में किया गया विश्लेषण है, जिसमें प्रश्न, परिकल्पनाएँ और व्याख्यात्मक ढाँचे केंद्रीय भूमिका निभाते हैं।

थापर के लिए इतिहास राजाओं, युद्धों और साम्राज्यों की महज़ कथा नहीं है। उनके अनुसार इतिहास एक ऐसा अनुशासन है जो यह समझने का प्रयास करता है कि समाज कैसे संगठित होते हैं, सत्ता कैसे निर्मित और वैध ठहराई जाती है, और समय के साथ सामाजिक परिवर्तन किन प्रक्रियाओं के माध्यम से घटित होते हैं। इसी दृष्टिकोण को वे अपने निबंध-संग्रह 'प्राचीन भारतीय सामाजिक इतिहास: कुछ व्याख्याएँ' में स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करती हैं।

इस कृति में वे त्याग (asceticism) को एक प्रतिसंस्कृति (counter-culture) के रूप में देखती हैं, जो ब्राह्मणवादी कर्मकांड और सामाजिक अनुशासन को चुनौती देती थी। इसी प्रकार, वे दान और उपहारों को केवल धार्मिक पुण्य-कर्म न मानकर सामाजिक आदान-प्रदान (social exchange) की एक व्यवस्था के रूप में विश्लेषित करती हैं, जिसके माध्यम से सत्ता, प्रतिष्ठा और सामाजिक संबंधों का पुनरुत्पादन होता था। वे अभिजात वर्ग की सामाजिक गतिशीलता, तथा "बर्बर" (outsiders) की छवि के निर्माण जैसे विषयों पर भी विचार करती हैं, जो समाजशास्त्र के क्लासिक विषय—स्थिति, पहचान, बहिष्करण और सामाजिक नियंत्रण—से सीधे जुड़े हुए हैं।

इस पुस्तक की समीक्षाओं में यह स्पष्ट किया गया है कि थापर सतही घटनाओं या प्रतीकों का मात्र वर्णन नहीं करतीं, बल्कि उनके पीछे काम कर रही सामाजिक प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास करती हैं। समीक्षकों के अनुसार, वे यह दिखाती हैं कि "प्राचीन समाज का बहुत-सा सामाजिक इतिहास मिथकों, धार्मिक भाषा और प्रतीकात्मक कथाओं के शब्द-जाल के नीचे और उससे परे छिपा हुआ है।" इस प्रकार, थापर का इतिहास-लेखन हमें अतीत को केवल श्रद्धा या परंपरा के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवंत सामाजिक यथार्थ के रूप में समझने का अवसर प्रदान करता है।

4.4. जाति, वंश और सामाजिक संरचना का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

रोमिला थापर की प्रमुख समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक चिंताओं में भारतीय समाज की संरचना—विशेष रूप से जाति, वंश (लाइनिज) और सामाजिक स्तरीकरण—का अध्ययन शामिल है। उनका तर्क है कि भारतीय समाज की सबसे विशिष्ट विशेषता, अर्थात् जाति व्यवस्था, को केवल धार्मिक या कर्मकांडीय ढाँचे के रूप में नहीं समझा जा सकता। यह व्यवस्था राजनीति, सत्ता और व्यावसायिक जीवन से गहराई से जुड़ी हुई है। थापर के अनुसार, भारतीय इतिहास में शक्ति और अधिकार के विश्लेषण के लिए केवल राजवंशों, राजाओं या साम्राज्यवादी संरचनाओं पर ध्यान देना पर्याप्त नहीं है। इसके बजाय, जाति और उपजाति के आपसी संबंधों, पेशेवर संघों (गिल्ड्स), कुटुंब और ग्राम स्तर की संस्थाओं—जैसे पंचायतों और सभाओं—का अध्ययन आवश्यक है।

थापर के कार्य पर आधारित एक प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय व्याख्या यह बताती है कि वे भारतीय समाज में सत्ता को प्रायः विकेन्द्रित और स्थानीय मानती हैं, जो जाति संरचनाओं के माध्यम से कार्य करती है। अन्य समाजों की तुलना में, जहाँ प्रशासनिक और सामाजिक कार्य राज्य द्वारा केंद्रीकृत रूप से संचालित होते हैं, थापर का तर्क है कि भारत में कई महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और नियामक कार्य जाति आधारित भूमिकाओं और संस्थाओं के माध्यम से संपन्न होते थे। जाति समूहों के पास पेशों पर नियंत्रण, संसाधनों तक पहुँच, धार्मिक अनुष्ठानों का संचालन और स्थानीय शासन में प्रभाव था। इस प्रकार सत्ता केवल शासकों द्वारा ऊपर से थोपी नहीं जाती थी, बल्कि स्थानीय सामाजिक संरचनाओं के भीतर ही स्थापित और संचालित होती थी।

इस दृष्टिकोण से, भारतीय समाज में सत्ता संबंधों को समझने के लिए ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्य और शूद्रों के साथ-साथ असंख्य जातियों (जातियों/जाटियों) के आपसी संबंधों का अध्ययन आवश्यक है। थापर इस बात पर ज़ोर देती हैं कि ये समूह केवल धार्मिक या कर्मकांडीय स्थिति के आधार पर ही नहीं, बल्कि भूमि, श्रम, ज्ञान प्रणालियों और राजनीतिक प्रभाव तक उनकी पहुँच के आधार पर भी अलग-अलग थे। संसाधनों पर नियंत्रण और सामाजिक आचरण का नियमन अक्सर जाति मानदंडों के माध्यम से होता था, जिससे जाति असमानता और प्रभुत्व को बनाए रखने का एक प्रमुख माध्यम बन गई।

थापर के विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण पक्ष जाति और वंश (लाइनिज) के बीच स्पष्ट संबंध है। समाजशास्त्रियों और इतिहासकारों ने इस बिंदु पर उनके विचारों की तुलना प्रसिद्ध मानवविज्ञानी इरावती कर्वे से की है। जिस प्रकार कर्वे ने

जाति को कुटुंब और रिश्तेदारी (किनशिप) का विस्तार माना, उसी तरह थापर यह दर्शाती हैं कि कैसे विवाह, उत्तराधिकार, गोत्र और वंश सदस्यता से जुड़े नियमों ने धीरे-धीरे औपचारिक जाति पदानुक्रम का रूप ले लिया।

थापर के अनुसार, प्रारंभिक वंश या कबीलाई समाज—विशेष रूप से जनजातीय या कुटुंब-आधारित समूह—जब नई आर्थिक परिस्थितियों, कृषि विस्तार और राजनीतिक संरचनाओं के संपर्क में आए, तो उनमें गहरे परिवर्तन हुए। समय के साथ, ये अपेक्षाकृत लचीले रिश्तेदारी समूह अधिक कठोर और स्तरीकृत जाति व्यवस्थाओं में परिवर्तित हो गए। इसी संदर्भ में थापर कहती हैं कि "वंश आधारित समाज ने जाति संरचना को आकार और रूप प्रदान किया।" यह दृष्टिकोण जाति को एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम मानता है, न कि एक शाश्वत या अपरिवर्तनीय संस्था के रूप में।

थापर सामाजिक स्तरीकरण की बढ़ती जटिलता पर भी ध्यान आकर्षित करती हैं। जैसे-जैसे समाज में क्षेत्रीय, व्यावसायिक और सामाजिक असमानताएँ बढ़ीं, वैसे-वैसे वर्ण की विचारधारा ने इन विविध प्रकार की असमानताओं को एक एकीकृत सैद्धांतिक ढाँचे में समाहित करने का प्रयास किया। हालांकि, थापर स्पष्ट करती हैं कि यह वैचारिक ढाँचा वास्तविक सामाजिक जीवन से अक्सर मेल नहीं खाता था। व्यवहार में जाति संबंध स्थानीय परिस्थितियों, पेशागत विविधताओं और क्षेत्रीय विशिष्टताओं से प्रभावित थे, जो वर्ण व्यवस्था की सरल और कठोर श्रेणियों को चुनौती देते थे।

छात्रों और भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के लिए थापर के विचारों का केंद्रीय निष्कर्ष यह है कि जाति को न तो शाश्वत, न स्थिर और न ही केवल धार्मिक रूप से निर्धारित व्यवस्था के रूप में देखा जाना चाहिए। इसके विपरीत, जाति एक ऐतिहासिक रूप से निर्मित सामाजिक प्रणाली है, जो कुटुंब संरचना, आर्थिक संगठन, राजनीतिक सत्ता और सामाजिक अंतःक्रियाओं में होने वाले परिवर्तनों से आकार लेती है। जाति को व्यापक ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर देखने से थापर भारतीय समाज में सत्ता, असमानता और पहचान की जटिल प्रक्रियाओं को समझने का एक गतिशील और समग्र दृष्टिकोण प्रदान करती हैं।

4.5. वंश से राज्य तक : राजनीतिक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

रोमिला थापर की प्रसिद्ध कृति From Lineage to State: Social Formations in the Mid First Millennium BC प्राचीन भारतीय इतिहास और राजनीति को समझने के उनके समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस पुस्तक में थापर पारंपरिक राजनीतिक इतिहास से अलग हटकर सोचती हैं, जो सामान्यतः राजाओं, राजवंशों और युद्धों पर केंद्रित होता है। इसके बजाय, वह उन गहरे सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन करती हैं जिनके माध्यम से राजनीतिक सत्ता और राज्य संरचनाओं का विकास हुआ। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य यह समझना है कि गंगा घाटी के क्षेत्र में बसे प्रारंभिक इंडो-आर्यन पशुपालक और वंश-आधारित समुदाय किस प्रकार धीरे-धीरे लगभग 1000 से 400 ईसा पूर्व के बीच जटिल और क्षेत्रीय राज्यों में परिवर्तित हुए।

थापर इस परिवर्तन की व्याख्या सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारकों के आपसी संबंधों के माध्यम से करती हैं। इनमें जनसंख्या वृद्धि, कृषि अधिशेष पर नियंत्रण, सामाजिक स्तरीकरण का विकास, विवाह संबंधों और गठबंधनों की भूमिका तथा अभिजात वर्ग (एलीट्स) का उभार शामिल है। वह यह स्पष्ट करती हैं कि राज्य का उदय न तो अचानक हुआ और न ही यह कोई स्वाभाविक या अनिवार्य प्रक्रिया थी। इसके बजाय, यह बदलती हुई भौतिक परिस्थितियों और सामाजिक संबंधों का क्रमिक परिणाम था। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ी और लोग स्थायी रूप से बसने लगे, संसाधनों के प्रबंधन, अधिशेष के संग्रह और सामाजिक नियंत्रण से जुड़े प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो गए। इन परिस्थितियों में केवल वंश या रिश्तेदारी पर आधारित संस्थाएँ पर्याप्त नहीं रह गईं।

इन परिवर्तनों को समझाने के लिए थापर मानवविज्ञान की सामाजिक विकास संबंधी अवधारणाओं का सहारा लेती हैं, विशेष रूप से एलमैन सर्विस और केंट फ्लैनरी जैसे विद्वानों के सिद्धांतों का। वह "जनसंख्या दबाव" और "सामाजिक परिबंधन (circumscription)" जैसी अवधारणाओं का उपयोग करते हुए बताती हैं कि जब समाज भौगोलिक या सामाजिक रूप से सीमित हो जाता है, तो संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए बल प्रयोग और अधिशेष पर नियंत्रण आवश्यक हो जाता है। यही प्रक्रियाएँ धीरे-धीरे सत्ता के केंद्रीकरण और केंद्रीय राजनीतिक संस्थाओं के विकास को बढ़ावा देती हैं, जो राज्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

इस वैचारिक ढाँचे में राज्य को न तो किसी दैवी उपहार के रूप में देखा गया है और न ही किसी महान शासक की व्यक्तिगत उपलब्धि के रूप में। थापर के अनुसार, राज्य विभिन्न स्तरों पर विभाजित सामाजिक समूहों के बीच संघर्ष, समझौते और संवाद का ऐतिहासिक परिणाम है। राजनीतिक सत्ता का उदय उन समूहों के आपसी संबंधों से हुआ, जिनकी

भूमि, श्रम, धार्मिक अधिकार और सैन्य शक्ति तक पहुँच असमान थी। इस प्रकार राज्य का निर्माण सामाजिक पदानुक्रम के सुदृढ़ीकरण और सत्ता के संस्थानीकरण से गहराई से जुड़ा हुआ था।

थापर की राजनीतिक समाजशास्त्र की एक महत्वपूर्ण विशेषता "राज्य", "सरकार" और "समाज" के बीच किया गया स्पष्ट अंतर है। उनके अनुसार, राज्य संस्थाओं, नियमों और संबंधों का एक स्थायी ढाँचा है, जो सत्ता और संसाधनों को नियंत्रित करता है। सरकार वह एजेंसी है जिसके माध्यम से नीतियाँ बनाई और लागू की जाती हैं, जबकि समाज उन व्यापक सामाजिक समूहों, वर्गों, जातियों और हितों का क्षेत्र है, जिनके भीतर राज्य और सरकार दोनों कार्य करते हैं। यह भेद उन्हें राजनीतिक प्रक्रियाओं का अधिक सूक्ष्म और गहन विश्लेषण करने में सहायता देता है।

थापर यह भी तर्क देती हैं कि राज्य की नीतियाँ प्रायः उन विशेषाधिकार प्राप्त समूहों के हितों को प्रतिबिंबित करती हैं, जिनके पास भूमि, अधिशेष उत्पादन और वैचारिक साधनों—विशेषकर धर्म—पर नियंत्रण होता है। धार्मिक सत्ता राजनीतिक अधिकार को वैध ठहराने और सामाजिक असमानताओं को स्थिर बनाए रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी। यह दृष्टिकोण सत्ता और प्रभुत्व से संबंधित व्यापक समाजशास्त्रीय सिद्धांतों के अनुरूप है, जो यह बताते हैं कि शासक वर्ग भौतिक संसाधनों के साथ-साथ प्रतीकात्मक और वैचारिक साधनों का भी उपयोग करता है।

सरल शब्दों में कहा जाए तो थापर की राजनीतिक समाजशास्त्र यह स्पष्ट करती है कि प्राचीन भारत में वंश संरचनाएँ, उभरते वर्ग विभाजन, जाति व्यवस्था और धार्मिक अधिकार किस प्रकार मिलकर राज्य के निर्माण और उसके संरक्षण में योगदान करते हैं। सामाजिक परिवर्तनों के व्यापक संदर्भ में राज्य के विकास को रखकर देखने से थापर का कार्य न केवल प्राचीन भारतीय इतिहास की गहरी समझ प्रदान करता है, बल्कि समाज और राज्य के संबंधों के विश्लेषण के लिए एक सुदृढ़ सैद्धांतिक ढाँचा भी प्रस्तुत करता है।

4.6 . धर्म एक सामाजिक संस्था के रूप में

रोमिला थापर के अध्ययन में धर्म और समाज के संबंध को सामाजिक विज्ञान के दृष्टिकोण से विस्तारपूर्वक समझाया गया है। वे धर्म को विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक या पारलौकिक घटना के बजाय एक सामाजिक संस्था के रूप में देखती हैं। अपने लेखन में, थापर यह दर्शाती हैं कि प्रारंभिक भारतीय समाज में धर्म व्यक्तिगत धार्मिकता के क्षेत्र के बजाय एक ऐसी प्रणाली के रूप में अधिक कार्य करता था जिसके माध्यम से समुदाय नैतिक व्यवस्था का गठन करते थे, सत्ता को

वैधता प्रदान करते थे और सामाजिक सीमाओं का निर्धारण करते थे। यह समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण उनके कार्य को ऐतिहासिक समाजशास्त्र की व्यापक परंपरा में स्थापित करता है, जो ईमाइल दुर्खीम, मैक्स वेबर और मार्सेल मॉस जैसे विचारकों से प्रभावित है।

4.6.1. धर्म का सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भ-

थापर का तर्क है कि धर्म के अध्ययन को केवल धार्मिक या पाठ्य व्याख्या तक सीमित न रहकर, सामाजिक और आर्थिक वास्तविकताओं में इसकी अंतर्निहितता का अध्ययन करना चाहिए। उनके अनुसार, अनुष्ठान, मंदिर, मिथक और सांप्रदायिक आंदोलन स्वायत्त सांस्कृतिक अभिव्यक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि ठोस ऐतिहासिक परिस्थितियों के उत्पाद हैं। ये आर्थिक हितों, राजनीतिक पदानुक्रमों और सामाजिक तनावों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिन्होंने प्रारंभिक भारतीय समुदायों को आकार दिया (थापर 1978)। इस दृष्टिकोण से, धार्मिक संस्थाएँ आस्था के शाश्वत स्वरूप के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक नियमन और सांस्कृतिक संचार के विकसित होते तंत्र के रूप में दिखाई देती हैं। इसलिए, थापर के अनुसार, यज्ञ केवल एक धार्मिक क्रिया नहीं है, बल्कि एक प्रतीकात्मक प्रदर्शन भी है जो अनुष्ठानिक ज्ञान को नियंत्रित करने वाले ब्राह्मणों और राजनीतिक सत्ता रखने वाले क्षत्रियों के बीच शक्ति संबंधों को पुनः स्थापित करता है। इसी प्रकार, संन्यास का अभ्यास एक प्रति-सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में कार्य करता है जो संपत्ति, वंश और वर्ग के स्थापित मानदंडों को चुनौती देता है (थापर 1978: 72-83)।

4.6.2. अशोक की धार्मिक नीति

थापर ने अपनी उत्कृष्ट कृति 'अशोक और मौर्यों का पतन' (1961) में सम्राट अशोक की पुनर्व्याख्या करते हुए उन्हें एक धार्मिक कार्य के साथ-साथ एक प्रतीकात्मक प्रदर्शन के रूप में भी देखा है, जो अनुष्ठानिक ज्ञान को नियंत्रित करने वाले ब्राह्मणों और राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करने वाले क्षत्रियों के बीच शक्ति संबंधों को पुनः स्थापित करता है। इसी प्रकार, संन्यास का अभ्यास एक प्रति-सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में कार्य करता है जो संपत्ति, वंश और वर्ग के स्थापित मानदंडों को चुनौती देता है (थापर 1978: 72-83)।

सम्राट अशोक की पुनर्व्याख्या इस पद्धतिगत अभिविन्यास का उदाहरण प्रस्तुत करती है। पारंपरिक वृत्तांत अक्सर कलिंग युद्ध के बाद अशोक के "बौद्ध धर्मांतरण" को एक नैतिक परिवर्तन के रूप में वर्णित करते हैं। हालांकि, थपर उनकी धम्म नीति को एक सामाजिक-राजनीतिक नैतिकता के रूप में देखती हैं, जिसका उद्देश्य नैतिक और प्रशासनिक एकीकरण के माध्यम से एक विशाल और विविध साम्राज्य को एकजुट करना था (थपर 1961: 204-210)।

उनके विचार में, अशोक का धम्म न तो विशुद्ध रूप से धार्मिक सिद्धांत था और न ही जनधर्म परिवर्तन का प्रयास। बल्कि, यह शासन का एक वैचारिक साधन था—एक साझा नैतिक व्याकरण जो मौर्य राज्य के भीतर प्रतिस्पर्धी सांस्कृतिक परंपराओं में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता था। यह व्याख्या एक कथित "धार्मिक" घटना को राज्य-प्रबंधन और सामाजिक एकीकरण के उदाहरण में बदल देती है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि विश्वास प्रणालियाँ किस प्रकार राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति करती हैं।

4.6.3.दुर्खीम, वेबर और मॉस सैद्धांतिक प्रभाव:

थापर का विश्लेषण समाजशास्त्र और मानवशास्त्र की कई मूलभूत अवधारणाओं से निकटता से मेल खाता है:

एमिल दुर्खीम का अनुसरण करते हुए, वह धर्म को एक "सामूहिक प्रतिनिधित्व" के रूप में देखती हैं जो समाज की नैतिक व्यवस्था को व्यक्त करता है (दुर्खीम 1912/1995)। अनुष्ठान और प्रतीक सामूहिक चेतना को समाहित करते हैं जो समुदायों को आपस में बांधती है।

मैक्स वेबर से, वह इस विचार को अपनाती हैं कि धार्मिक मान्यताएँ वैधता, अधिकार और आर्थिक व्यवहार की धारणाओं के साथ परस्पर क्रिया करती हैं। उदाहरण के लिए, बौद्ध धर्म और जैन धर्म जैसी त्यागवादी परंपराएँ सांसारिक आचरण को निर्देशित करने वाले "नैतिकता" के बारे में वेबर की चिंताओं के समानांतर हैं।

मार्सेल मॉस से प्रभावित होकर, थापर दान (उपहार देना) और दक्षिणा (बलिदान शुल्क) जैसी प्रथाओं की व्याख्या सामाजिक आदान-प्रदान और पुनर्वितरण की प्रणालियों के रूप में करते हैं, जहां देने से वफादारी, प्रतिष्ठा और दायित्व के बंधन उत्पन्न होते हैं (थापर 1978; मॉस 1925/1990)।

थापर लगातार इस बात पर ज़ोर देती हैं कि धर्म सामाजिक पदानुक्रम को मज़बूत भी करता है और चुनौती भी देता है। जहाँ औपचारिक ब्राह्मणवादी संरचनाओं ने अनुष्ठानों और वंश के माध्यम से सत्ता को दोहराया, वहीं वैकल्पिक

आंदोलनों - बौद्ध धर्म, जैन धर्म और स्थानीय पंथों की श्रमण परंपराओं - ने असहमति और मूल्यों की नई परिभाषा को आवाज़ दी (थापर 1984)। भारत की ऐतिहासिक प्रक्रिया के हिस्से के रूप में गैर-परंपरावादी संप्रदायों का अध्ययन करके, न कि हाशिए के विचलन के रूप में, वह भारतीय सभ्यता में निहित बहुलता और बहस को सामने लाती हैं। उनकी किताब एंशिएंट इंडियन सोशल हिस्ट्री: सम इंटरप्रिटेशन्स (1978) में उनके निबंध दिखाते हैं कि जो चीज़ शुद्ध धार्मिक भक्ति के रूप में दिखती है, वह अक्सर शक्ति, प्रतिष्ठा और दायित्व के सवालों को छिपाती है। इस प्रकार धार्मिक धर्मशास्त्र सामाजिक मोलभाव के अखाड़े बन जाते हैं - ऐसे स्थान जहाँ सत्ता, नैतिकता और समुदाय के अर्थ लगातार फिर से परिभाषित होते हैं।

4.7 लिंग, परिवार और हाशिए के समुदाय

प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन में रोमिला थापर द्वारा अपनाई गई समाजशास्त्रीय पद्धति का विशेष ध्यान उन सामाजिक समूहों पर केंद्रित है जिन्हें मुख्यधारा के राजनीतिक इतिहासों में प्रायः हाशिए पर रखा गया है या पूरी तरह अनदेखा कर दिया गया है। इनमें स्त्रियाँ, निम्न जातियाँ, जनजातीय समुदाय तथा अन्य अधीनस्थ वर्ग शामिल हैं। जहाँ परंपरागत इतिहास लेखन प्रायः अभिजात वर्ग, राजवंशों और राज्य की स्थापना जैसी प्रक्रियाओं पर केंद्रित रहता है, वहीं थापर इस प्रवृत्ति को उलटते हुए अपने विश्लेषण का केंद्र उन समूहों को बनाती हैं जिन्हें स्थापित ऐतिहासिक आख्यानों से बाहर रखा गया है। अकादमिक जगत में उनके लेखन से संवाद करते हुए यह बार-बार रेखांकित किया गया है कि उन्होंने निरंतर "जाति और लिंग के प्रश्नों को अग्रभूमि में रखा।"

विशिष्ट स्त्री पात्रों, जैसे शकुंतला, पर केंद्रित तथा मातृसत्ता जैसे व्यापक विषयों से संबंधित विभिन्न निबंध संग्रहों में थापर साहित्यिक और पौराणिक परंपराओं को केवल काल्पनिक आख्यानों के रूप में नहीं देखतीं। इसके बजाय वे इन ग्रंथों की सामग्री को पितृसत्ता और उससे जुड़े संपत्ति अधिकार, अनुष्ठानिक पवित्रता तथा अन्य सामाजिक प्रश्नों के बीच मौजूद ठोस और वास्तविक संघर्षों के प्रतिबिंब के रूप में पढ़ती हैं। आदर्श स्त्री भूमिकाओं—जैसे उत्तम पत्नी, माता या आदर्श रानी—से संबंधित कथाओं को वे सांस्कृतिक रणनीतियों के रूप में व्याख्यायित करती हैं, जिनके माध्यम से स्त्रियों के शरीर और आचरण के विभिन्न पहलुओं को नियंत्रित किया गया। यह नियंत्रण संपत्ति के हस्तांतरण, जातिगत सीमाओं के संरक्षण तथा सत्ता की वैधता स्थापित करने की व्यापक रणनीतियों का हिस्सा था।

परिवार और विवाह से संबंधित थापर के अध्ययन कुटुंब व्यवस्था और सत्ता के संचय के बीच के संबंध को और अधिक स्पष्ट करते हैं। वे अंतर्विवाह—अर्थात् स्पष्ट रूप से परिभाषित सामाजिक समूह के भीतर विवाह—को सघन और शक्तिशाली अभिजात वर्गों के निर्माण से जोड़ती हैं। इसके साथ ही, बहिर्विवाह और हाइपरगैमी, अर्थात् अन्य समूहों या उच्च सामाजिक समूहों में विवाह, को वे एक ऐसे माध्यम के रूप में देखती हैं जिसके द्वारा नए समूह नवगठित राज्यों में सम्मिलित हुए। राज्य निर्माण और उसके क्षेत्रीय विस्तार के काल में विवाह के माध्यम से बने ये गठबंधन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण थे।

हालाँकि, इसके साथ-साथ थापर स्त्रियों और तथाकथित हाशिए के वर्गों को प्रभुत्व के केवल निष्क्रिय प्राप्तकर्ता के रूप में प्रस्तुत नहीं करतीं। इसके विपरीत, वे यह दिखाने का प्रयास करती हैं कि इन वर्गों ने किस प्रकार सामाजिक बंधनों के भीतर रहते हुए उन्हें साधा, पुनर्व्याख्यायित किया या चुनौती दी। धार्मिक संप्रदायों से जुड़ाव, स्थानीय पंथों में सहभागिता तथा कुटुंब या सामाजिक संगठन के वैकल्पिक रूपों की स्थापना को वे एजेंसी के महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में चिन्हित करती हैं। इस प्रकार, लिंग और हाशियाकरण के प्रश्न एक बार फिर प्राचीन भारतीय समाज की थापर की व्याख्या के निर्माण में केंद्रीय तत्व बन जाते हैं।

4.8. इतिहास-लेखन और सामाजिक विचार धारा

रोमिला थापर का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण संभवतः सबसे स्पष्ट रूप से उनके उन विचारों में देखा जा सकता है, जो उन्होंने इतिहास लेखन और उसके समाज में उपयोग के संबंध में व्यक्त किए हैं। वे लगातार यह प्रश्न उठाती हैं कि ऐतिहासिक आख्यान किस प्रकार निर्मित होते हैं और वे समकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में किस प्रकार कार्य करते हैं। विशेष रूप से, वे उन औपनिवेशिक इतिहासकारों की आलोचना करती हैं जिन्होंने प्राचीन भारत को स्थिर, अलौकिक और सामाजिक तथा आर्थिक जीवन से पृथक रूप में चित्रित किया। थापर के अनुसार, इस प्रकार का चित्रण जटिल सामाजिक प्रक्रियाओं को सरलीकृत कर देता है और अतीत की आदर्शित या विकृत छवि प्रस्तुत करता है।

साथ ही, वे आधुनिक साम्प्रदायिक इतिहासों की भी आलोचना करती हैं, जो भारतीय इतिहास के पिछले हजार वर्षों को केवल हिंदू और मुस्लिम समुदायों के द्वंद्व के रूप में प्रस्तुत करते हैं। थापर के अनुसार, यह दृष्टिकोण न केवल

ऐतिहासिक रूप से भ्रामक है, बल्कि राजनीतिक रूप से भी खतरनाक है, क्योंकि यह अतीत का उपयोग वर्तमान वैचारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए करता है। उनके लिए, इतिहास का उचित अध्ययन वैज्ञानिक और तर्कसंगत पद्धति के अनुसार होना चाहिए, जिसमें विभिन्न कारणों को माना जाए, व्यापक साक्ष्यों का मूल्यांकन किया जाए और नए निष्कर्षों के प्रकाश में बहस, पुनर्व्याख्या और संशोधन की संभावना बनी रहे।

थापर आलोचनात्मक, धर्मनिरपेक्ष और साक्ष्य-आधारित इतिहास शिक्षा की भी प्रबल समर्थक हैं। भारतीय स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों का उनका गहन अध्ययन दर्शाता है कि वे उनकी निम्न गुणवत्ता, औपनिवेशिक प्रभाव और साम्प्रदायिक पक्षपात से "हैरान" थीं। अपने व्याख्यानों में वे इस बात पर जोर देती हैं कि जिस प्रकार इतिहास पढ़ाया जाता है, उसका गहरा प्रभाव नागरिकों की पहचान, दृष्टिकोण और लोकतांत्रिक संवेदनाओं पर पड़ता है। इतिहास शिक्षा केवल शैक्षणिक विषय नहीं है, बल्कि यह एक कार्यशील लोकतंत्र में समाज और समाज में अपनी जिम्मेदारियों को समझने के लिए मौलिक आधार प्रदान करती है।

अंतरविषयक निबंध "Romila Thapar: An Interdisciplinary Dialogue" उनके इस दृष्टिकोण को संक्षेप में प्रस्तुत करता है, जिसमें कहा गया है कि उन्होंने एक ऐसी कार्यप्रणाली विकसित की है जिसमें समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, पुरातत्त्व और अन्य सामाजिक विज्ञानों का समावेश है। वे इस कार्यप्रणाली का उपयोग केवल प्राचीन भारत के अध्ययन में ही नहीं करतीं, बल्कि आधुनिक घटनाओं जैसे राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिकता और सार्वजनिक बौद्धिकों की स्थिति के अध्ययन में भी करती हैं। इस मूल्यांकन के अनुसार, उनका उद्देश्य केवल विश्लेषणात्मक नहीं है, बल्कि मानकनिर्माणात्मक भी है, जिसमें वे इतिहास की तर्कसंगत और साक्ष्य-आधारित समझ के माध्यम से वैज्ञानिक, चिंतनशील और जागरूक समाज के निर्माण में योगदान देना चाहती हैं। इस प्रकार, उनका इतिहासलेखन केवल अकादमिक नहीं रह जाता, बल्कि इसका व्यापक सामाजिक उद्देश्य भी होता है।

4.9 सारांश

भारत की जानी-मानी इतिहासकारों में से एक, रोमिला थापर ने अपने विश्लेषणों में समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों को शामिल करके प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्ययन को बदल दिया है। पारंपरिक इंडोलॉजी से

आगे बढ़ते हुए, जो सिर्फ़ राजाओं और राजवंशों पर केंद्रित थी, थापर यह जांच करती हैं कि समाज जाति, रिश्तेदारी, धर्म, अर्थव्यवस्था और सत्ता के ज़रिए कैसे संगठित थे, और ये संरचनाएँ समय के साथ कैसे विकसित हुईं। डी. डी. कोसांबी की "संयुक्त पद्धति" से प्रभावित होकर, वह वेदों और महाकाव्यों जैसे प्राचीन ग्रंथों को पवित्र कहानियों के बजाय सामाजिक संस्थाओं, संघर्षों और पदानुक्रमों के सबूत के तौर पर देखती हैं।

प्राचीन भारतीय सामाजिक इतिहास: कुछ व्याख्याएँ में, वह त्याग, दान और सामाजिक नियंत्रण जैसे समाजशास्त्रीय विषयों की पड़ताल करती हैं, जो स्तरीकरण और विचारधारा के अंतर्निहित पैटर्न को उजागर करते हैं। उनका क्लासिक काम वंश से राज्य तक दिखाता है कि गंगा घाटी में वंश-आधारित चरवाहा समूह जनसंख्या वृद्धि, अतिरिक्त संसाधनों पर नियंत्रण और कुलीन गठबंधनों के माध्यम से जटिल राज्य संरचनाओं में कैसे बदले। थापर राज्य को दैवीय इच्छा के बजाय सामाजिक बातचीत का परिणाम मानती हैं, और इसका विश्लेषण वर्ग, जाति और धार्मिक सत्ता संरचनाओं के माध्यम से करती हैं।

थापर के लिए, धर्म एक सामाजिक संस्था है जो सत्ता संबंधों में निहित है। अशोक और मौर्यों का पतन में, वह अशोक के धम्म की व्याख्या सामाजिक एकता के लिए एक राजनीतिक नैतिकता के रूप में करती हैं। दुर्खीम, वेबर और मॉस से प्रेरणा लेते हुए, वह अनुष्ठान और उपहार आदान-प्रदान को सामाजिक पदानुक्रम और पारस्परिकता की अभिव्यक्ति के रूप में देखती हैं। थापर लिंग और हाशिए पर पड़े लोगों को भी सामने लाती हैं, महिलाओं, निचली जातियों और आदिवासी समुदायों को ऐतिहासिक बदलाव में सक्रिय भागीदार के रूप में देखती हैं।

औपनिवेशिक और सांप्रदायिक इतिहास लेखन की उनकी आलोचना लोकतांत्रिक समाज के लिए धर्मनिरपेक्ष, सबूत-आधारित इतिहास को महत्वपूर्ण मानती है। अपने अंतर-विषयक और तर्कसंगत दृष्टिकोण के माध्यम से, थापर ने प्राचीन भारतीय इतिहास को एक सामाजिक विज्ञान के रूप में फिर से परिभाषित किया - एक ऐसा विज्ञान जो केवल राजनीतिक घटनाओं को बताने के बजाय सत्ता, विश्वास और सामाजिक परिवर्तन की गतिशीलता को उजागर करता है।

4.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. रोमिला थापर ने प्राचीन भारतीय इतिहास को इंडोलॉजी से सामाजिक विज्ञान में किस प्रकार रूपांतरित किया? की विवेचना कीजिए।
2. "इतिहास एक सामाजिक विज्ञान के रूप में" रोमिला थापर की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
3. जाति व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में रोमिला थापर के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की व्याख्या कीजिए।
4. वंश (Lineage) और जाति के संबंध को रोमिला थापर किस प्रकार समझाती हैं?
5. राज्य, सरकार और समाज के बीच रोमिला थापर द्वारा किया गया अंतर क्यों महत्वपूर्ण है? राजनीतिक समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से विवेचना करें।
6. धर्म को एक सामाजिक संस्था के रूप में देखने में रोमिला थापर का योगदान क्या है?
7. प्राचीन भारतीय इतिहास में लिंग, परिवार और हाशिए के समुदायों पर रोमिला थापर के दृष्टिकोण का मूल्यांकन कीजिए।

4.11 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रोमिला थापर ने प्राचीन भारतीय इतिहास को सामाजिक विज्ञान में रूपांतरित करने के लिए कौन-सी प्रमुख पद्धति अपनाई?
2. डी.डी. कोसंबी की 'संयुक्त पद्धति' का रोमिला थापर के इतिहास लेखन पर क्या प्रभाव पड़ा?
3. थापर के अनुसार वेद और महाकाव्य सामाजिक साक्ष्य के रूप में किस प्रकार उपयोगी हैं?
4. मिथक को रोमिला थापर सामाजिक चेतना का प्रतिबिंब क्यों मानती हैं?
5. रोमिला थापर जाति व्यवस्था को ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम क्यों कहती हैं?
6. वंश (Lineage) और जाति के बीच थापर द्वारा स्थापित संबंध क्या है?
7. From Lineage to State में राज्य उदय के लिए थापर द्वारा बताई गई प्रमुख प्रक्रियाएँ कौन-सी हैं?
8. थापर के अनुसार राज्य, सरकार और समाज में क्या अंतर है?

9. अशोक के धम्म को थापर सामाजिक-राजनीतिक नैतिकता क्यों मानती हैं?
10. थापर के इतिहास लेखन में हाशिए के समुदायों (स्त्रियाँ, निम्न जातियाँ) को क्यों महत्व दिया गया?

4.12 शब्दावली

1.	इंडोलॉजी	संस्कृत ग्रंथों का भाषाई-धार्मिक अध्ययन
2.	वंश/लाइनिज	रिश्तेदारी-आधारित समूह; राज्य निर्माण का प्रारंभिक रूप।
3.	सामाजिक स्तरीकरण	समाज में पदानुक्रम; जाति-असमानता से जुड़ा।
4.	जाति व्यवस्था	: ऐतिहासिक रूप से विकसित पदानुक्रम।
5.	हाइपरगैमी	उच्च वर्ग में विवाह; अभिजात गठबंधन।
6.	वर्ण विचारधारा	असमानताओं को एकीकृत करने का ढाँचा।
7.	धम्म	अशोक की नैतिक-राजनीतिक नीति; सामाजिक एकीकरण का साधन।
8.	श्रमण परंपराएँ	बौद्ध-जैन जैसे वैकल्पिक आंदोलन।
9.	धर्मनिरपेक्ष इतिहास	साक्ष्य-आधारित, पक्षपातरहित इतिहास लेखन।

4.13 संदर्भ सूची

- Lowie, R. H. (1920). Primitive society. Boni and Liveright.
- Moreland, W. H. (1962). India at the death of Akbar. Atma Ram & Sons.
- Oppenheimer, F. (1914). The state. Vanguard Press.
- Service, E. R. (1978). Classical and modern theories of the origin of government. In R. Cohen & E. R. Service (Eds.), Origins of the state (pp. xx–xx). Institute for the Study of Human Issues.
- Lloyd, P. (1965). The political structure of African kingdoms: An exploratory model. In Political systems and the distribution of power (ASA Monographs No. 2). Tavistock.
- Thapar, R. (1961). Ashoka and the decline of the Mauryas. Oxford University Press. (Reprint 1973)
- PhilPapers. (2015). Romila Thapar: Interpretations of ancient Indian history. https://philpapers.org/rec/THAIOAphilpapers

- Caravan Magazine. (2015, October 6). “You can’t run disciplines on the basis of the notions that particular governments have”: Interview with Romila Thapar. https://caravanmagazine.in/vantage/discipline-notion-particular-government-interview-romila-thapar
- Library of Congress, Kluge Center. (2015, March 30). Who writes history? Romila Thapar and the textbooks of India. https://blogs.loc.gov/kluge/2015/03/who-writes-history/
- Jacobin. (2024, July 1). Romila Thapar is one of India’s bravest public intellectuals. https://jacobin.com/2024/07/romila-thapar-india-historian-religion

ईकाई 05
जी. एस. घुर्ये (G.S Ghurye)

ईकाई की रूपरेखा

5.0 प्रस्तावना

5.1 उद्देश्य

5.2 जी. एस. घुर्ये का जीवन परिचय

5.3 जी. एस. घुर्ये की रचनाएं

5.4 घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

5.5 केन्द्रीय विचार

5.5.1 भारत मे जाति प्रथा पर विचार

5.5.2 भारत मे जनजाति का अध्ययन

5.5.3 भारतीय साधु

5.6 सारांश

5.7 निबंधनात्मक प्रश्न

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.9 संदर्भ ग्रंथ सूची

5.1 प्रस्तावना :

भारतीय सामाजिक विचारक जैसे एम एन श्रीनिवास, आन्द्रे बेतेई, घुर्ये, एस सी दुबे आदि विदेशी समाजशास्त्रियों से भिन्न नहीं है| जिस प्रकार अगस्त कोंत, स्पेंसर, दुर्खीम, वेबर तथा कार्ल मार्क्स अपने यूरोपीय समाज और इतिहास की उपज थे। इसी प्रकार भारतीय समाजशास्त्री भी भारतीय समाज और इतिहास के विशेषज्ञ रहे है। मूल रूप से सामाजिक विचारक किसी भी स्थान एवं समय के रहे हो, उन पर उस समय की तात्कालिक समाज की जानकारी अवश्य होती है। अर्थात इन विचारकों ने अपने देश की

सामाजिक व्यवस्था और उसकी प्रक्रियाओं को समझने का प्रयास किया है। जो मुख्य रूप से एक समाजशास्त्री को करना भी चाहिये। इसी संदर्भ में भारतीय समाजशास्त्रियों ने भी अपने समय की सामाजिक व्यवस्था एवं प्रक्रियाओं का वर्णन किया है। जिसमें सामाजिक समाज की व्याख्या करने में जी. एस. घुर्ये की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। जिन्होंने समाजशास्त्र को एक ज्ञान शाखा की रूप मे विकसित किया है। इस इकाई मे आप शिक्षार्थी भारतीय समाजशास्त्रियों विचारकों के अंतर्गत जी. एस. घुर्ये को विस्तारपूर्वक लिखेंगे। जिन्होंने भारतीय समाज के बारें मे विचार रखे है। जी. एस. घुर्ये भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिंतकों में प्रमुख चिंतक रहे है। जिन्हें भारतीय समाजशास्त्र के जनक के रूप मे भी जाना जाता है। पेट्रिक गैड्स के बाद घुर्ये को ही बंबई विश्वविघालय में समाजशास्त्र के अध्यापक के रूप मे नियुक्त किया। कुछ समय तक प्रोफेसर एल. टी. हाबहाउस के साथ अध्ययन करने के बाद इन्होंने डॉ. रिवर्स के मार्गदर्शन में "Ethnic Theory of Caste" विषय पर शोध किया। सन 1923 में घुर्ये कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त करके भारत लौट आए। सन् 1924 में इन्हें बम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में रीडर एवं अध्यक्ष के पद पर नियुक्त किया गया।

इनकी पहली कृति "Caste and Race" सन् 1932 में लंदन से प्रकाशित हुई। इस पुस्तक की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। पहली तो यह है की इसमें घुर्ये ने जाति-व्यवस्था की उत्पत्ति को प्रजाति से बतायी है। दूसरी यह है की इस कृति ने पहली बार समाजशास्त्र को विश्व के मानचित्र पर स्थापित किया। प्रो0 घुर्ये के लेखन में इतिहास, मानवशास्त्र और समाजशास्त्रीय परंपराओं का समन्वय दिखाई देता है। उन्होंने न केवल स्वयं अनुभव-आधारित अध्ययन और अनुसंधान किया, बल्कि अपने विद्यार्थियों को भी इसके लिए प्रेरित किया। प्रो0 घुर्ये ने 25 से अधिक पुस्तकें लिखीं। इन्होंने इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी की स्थापना की और इसके तत्वावधान में 1952 में श् सोशियोलॉजिकल बुलेटिनश् नामक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया। प्रो. घुर्ये 1945 से 1950 तक इसके अध्यक्ष भी रहे। घुर्ये ने जातियों, जनजातियों, ग्रामीण-शहरीकरण, भारतीय साधुओं तथा भारतीय वेशभूषा आदि विषयों पर व्यापक अध्ययन किया। वे एक बहुमुखी समाजशास्त्री होने के साथ-साथ प्रकाण्ड विद्वान भी थे। उन्होंने समाजशास्त्र की विषय-वस्तु को नए आयाम दिए। अपने लंदन प्रवास के दौरान उन्होंने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र को निकटता से देखा और दूसरी ओर उन्होंने अपनी संस्कृत-विद्वता का उपयोग समाज-विज्ञानों को समझने में किया।

5.1 उद्देश्य :

I. घुर्ये का भारतीय समाजशास्त्र मे योगदान को समझ पाएंगे।

II. घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के बारें मे ज्ञान को समझेंगे।
III. घुर्ये के जाति प्रथा पर विचारों को समझ सकेंगे।

5.2 जी. एस. घुर्ये का जीवन परिचय :

भारत में समाजशास्त्र के साथ गोविन्द सदाशिव घुरिये का नाम बड़े सम्मान के साथ जुड़ा हुआ है। वे भारत की प्रथम पीढ़ी के समाजशास्त्रियों में से हैं जिन्होंने भारत में न केवल समाजशास्त्र को दृढ़ता से स्थापित किया वरन् कई ऐसे छात्र भी प्रदान किये जिन्होंने देश के विभिन्न भागों में समाजशास्त्र विषय की स्थापना की एवं समाजशास्त्रीय शोध एवं सिद्धान्तों के द्वारा समाजशास्त्रीय साहित्य को समृद्धि प्रदान की। प्रो. घुरिये का जन्म 12 दिसम्बरए 1893 में महाराष्ट्र के मालवा क्षेत्र के एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनका शैक्षणिक जीवन प्रारम्भ से ही उच्च कोटि का रहा है। उन्होंने अपनी सभी परीक्षाएं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। उन्होंने सन् 1918 में संस्कृत में एवं बाद में अंग्रेजी में बम्बई के एल्फिन्स्टन कॉलेज से प्रथम श्रेणी में स्वर्ण पदक प्राप्त कर एम. ए. की परीक्षा पास की।

सन् 1919 में बम्बई विश्वविद्यालय ने समाजशास्त्र विषय पढ़ाने के लिए प्रो. पैट्रिक गेडिड्स को आमन्त्रित किया। इस समय प्रो. घुरिये एल्फिन्स्टन कॉलेज, बम्बई में संस्कृत के प्राध्यापक थे और यह कोई भी नहीं जानता था कि वे एक दिन भारत के महान् समाजशास्त्री बन जायेंगे। प्रो. गेडिड्स के भाषणों को जो लोग सुनते थे, उनमें से घुरिये भी एक थे। गेडिड्स ने ब्रिटिश विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र में प्रशिक्षण पाने के लिए घुरिये का चयन किया। उनकी सिफारिश पर बम्बई विश्वविद्यालय ने घुरिये को लन्दन भेजा। कुछ समय तक प्रो. एल. टी. हाबहाउस के साथ अध्ययन के बाद डॉ. डब्ल्यू. आर. एच. रिवर्स के पास कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में चले गये। वहां घुरिये ने अनेक लेख लिखे तथा डॉ. रिवर्स के निर्देशन में 'Ethnic Theory of Caste' (जाति का प्रजातीय सिद्धान्त) विषय पर अपना शोध कार्य किया। प्रो. घुरिये के कार्यों पर डॉ.रिवर्स का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता था और उनका झुकाव मानवशास्त्रीय महत्व के विषयों, जैसे नातेदारी और प्रसारवाद की ओर था। प्रो. घुरिये के शोध कार्य की समाप्ति के पूर्व ही प्रो. रिवर्स का देहावसान हो गया। सन् 1923 में प्रो. घुरिये कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि ग्रहण कर भारत लौट आये। सन् 1924 में उन्हें बम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के रीडर एवं विभागाध्यक्ष पद पर नियुक्ति प्रदान की गई। सन् 1934 में घुरिये को प्रोफेसर के पद नियुक्त किया गया तथा 1959 में वे यहां से सेवा निवृत्त हुए। इसके बाद भी आपकी सेवाएं लेने के लिए बम्बई विश्वविद्यालय ने आपके लिए 'प्रोफेसर एमरीटस' (Emeritus Professor) का एक नया पद सृजित किया। प्रो. घुरिये ने 25 से भी अधिक पुस्तकों

की रचना की हैए, उन्होंने 800 एम. ए. छात्रों को शीघ्र कार्य एवं 87 छात्रों को डाक्टरेट हेतु शोध कार्य के लिए निर्देशित किया। प्रो. घुरिये के लेखन में इतिहास, मानवशास्त्र और समाजशास्त्री परम्पराएं विद्यमान हैं। उन्होंने स्वयं ने ही नहीं वरन् अपने छात्रों को भी अनुभवाश्रित अध्ययन एवं अनुसन्धान करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने भारत के अनेक समाजशास्त्र के अध्यापकों को शिक्षा प्रदान की। वे । 'Anthropological Society of Bombay' के 1945-50 तक अध्यक्ष भी रहे। घुरिये ने 'इण्डियन सोशियोलोजिकल सोसायटी'(Indian Sociological Society) की स्थापना की और इसके तत्वावधान में सन् 1952 में 'सोशियोलोजिकल बुलेटिन' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी किया जो आज भारत मे ही नहीं वर्ण विश्व की प्रमुख समाजशास्त्रीय पत्रिकाओं मे से एक है।

5.3 जी. एस. घुर्ये की रचनाएं :

भारतीय समाजशास्त्रीय क्षेत्र मे **जी. एस. घुर्ये का विशिष्ट है, घुर्ये ने** समाजशास्त्रीय साहित्य को समृद्ध बनाने में जो योगदान किया है, उसके लिए हम उनकी रचनाओ की चर्चा करेंगे।

1) The Aborigines—So-called and Their Future — 1943
2) Indian Sadhus — 1953
3) Vidyas: A Homage to Comte and a Contribution to Sociology of Knowledge — 1957
4) Caste, Class and Occupation — 1961
5) Gods and Men — 1962
6) Cities and Civilization — 1962
7) Family and Kin in Indo-European Culture — 1962
8) The Scheduled Tribes — 1963
9) Anatomy of a Rural Community — 1963
10) The Mahadev Koli — 1963
11) Religious Consciousness — 1965
12) Rajput Architecture — 1968
13) Social Tensions in India — 1968

14) Two Brahmanical Institutions: Gotra and Varna — 1972

15) I and Other Explorations — 1973

16) Whither India — 1974

बोध प्रश्न-01

1) प्रो0 जी. एस. घुर्ये द्वारा "इंडियन साधु" की रचना किस वर्ष की गई थी।

i- 1950 **ii-1953**

iii- 1954 **iv-1956**

2) प्रो0 जी. एस. घुर्ये जाति व्यवस्था की कितनी विशेषताओं का वर्णन किया है।

i- दो **ii- चार**

iii- छः **iv- आठ**

5.4 घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य

घुर्ये ने अनेक विषयों पर लिखा है, और उन्होंने जो अध्ययन पद्धति अपनाई है, वह ऐतिहासिक एवं भारतशास्त्रीय (Indology) पद्धति है। घुर्ये ने अपने सभी अध्ययनों में तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति का उपयोग किया है। तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन पद्धति में घुर्ये ने उन सभी समाजशास्त्रियों को जो उनके विद्यार्थी रहे हैं, या वे लोग जो उनके सिद्धान्त से प्रभावित थे, सम्मिलित किया जा सकता है। यह पद्धति घुर्ये एवं उनके शिष्य समाजशास्त्रियों के विशाल एवं समृद्ध योगदान पर आधारित है। इस पद्धति में भारतीय इतिहास तथा महाकाव्य जैसे परम्परागत स्वरुपों को आधार माना है। इसलिए घुर्ये की इस अध्ययन पद्धति को भारत विद्याशास्त्र या वाड्.मय परिप्रेक्ष्य के नाम से जाना जाता है। घुर्ये ने अपने समाजशास्त्रीय विश्लेषण में अनेक विषयों की विवेचना की है एवं भारतीय समाज का गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने जाति व्यवस्था, नातेदारी प्रथा, सौन्दर्यशास्त्र, वेशभूषा का गति विज्ञान, भारतीय नगर, ग्रामीण समाज में होने वाले परिवर्त न, भारतीय आदिवासी एवं प्रजाति, भारतीय साधुओं तथा सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन किया। भारतीय संस्कृति और समाज के विभिन्न पक्षों के अन्वेषण में उन्होंने भारत विद्याशास्त्र के स्रोतों का प्रयोग किया। उनका भारतीय साधुओं, धार्मिक चेतना तथा दो ब्राहा्रणवादी संस्थाओं के रुप में

गोत्र एवं चरण नामक अध्ययनों में भारत के पौराणिक एवं कई धार्मिक ग्रन्थों का प्रयोग किया गया है। घुर्ये न भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य द्वारा भारतीय साधुओं के उत्थान, इतिहास, कार्य और वर्तमान में हिन्दू साधुओं के संगठनों का उल्लेख किया है। घुर्ये का भारत विद्याशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के प्रति काफी मोह था, किन्तु उन्होंने सामाजिक-सांस्कृतिक मानवशास्त्र में प्रचलित क्षेत्र कार्य परम्परा के प्रति भी काफी विमोह प्रकट नहीं किया। उन्होंने अपने कई अध्ययनों में अत्याधुनिक सर्वेक्षण विधि और सांख्यिकी तकनीकि ('दि महादेव कोलिज' 1963 तथा सेक्स हेबिट्स ऑफ मिडिल क्लास पिपल 1938) के अध्ययन में क्षेत्र-कार्य विधि का प्रयोग कर भारतीय समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र मे अनुभववादी परम्परा की जड़ों को मजबूत किया।

5.5 घुर्ये से संबंधित केन्द्रीय विचार :

प्रो. जी. एस. घुर्ये भारतीय समाजशास्त्र के जनक माने जाते हैं। उनके केन्द्रीय विचार मुख्यतः भारतीय समाज की संरचना, परंपरा, संस्कृति और परिवर्तन पर केंद्रित हैं।अतः उनके प्रमुख केन्द्रीय विचारों को सरल और स्पष्ट रूप में समझे जा सकते हैं।

5.5.1 घुर्ये के जाति प्रथा पर विचार :

घुर्ये की रुचि प्रारम्भ से ही जाति और प्रजाति से सम्बंधित विषयों में रही है। उनका पीच0डी0 का विषय भी "जाति का नृजातिक" सिद्धांत था जिसके आधार पर सन् 1932 में प्रथम पुस्तक "भारत में जाति और प्रजाति" प्रकाशित हुई। बाद में यही पुस्तक कुछ हेर-फेर, संशोधन के साथ समय-समय पर अलग -अलग नामों से ('भारत में जाति और वर्ग"1950 तथा "जाति, वर्ग और व्यवसाय", 1961) कई संस्करणों में प्रकाशित हुई। अपने विषय की आज भी यह एक प्रमाणिक पुस्तक मानी जाति है। इस पुस्तक में, घुर्ये ने जाति के उद्भव से लेकर इसके भविष्य का विश्लेषण किया है। उन्होंने जाति को एक जटिल घटना बताते हुए इसकी निश्चित शब्दों में बंधी हुई कोई सामान्य परिभाषा नहीं दी है, किन्तु इसकी छः विशेषताओं का अवश्य विश्लेषण किया है। ये विशेषता निम्नलिखित हैं।

I- समाज का खंडात्मक विभाजन (Segmental Devision of Society)

जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को विभिन्न खंडों में विभाजित कर दिया है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य सुनिश्चित है। खण्ड विभाजन से तात्पर्य- एक जाति के सदस्यों की

सामुदायिक भावना सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती है। व्यक्ति की निष्ठा एवं श्रद्धा समुदाय के बजाय अपनी जाति के प्रति होती है। प्रत्येक जाति की एक जाति पंचायत होती है।

II- संस्तरण (Hierarchy)

समाज में सभी जातियों की स्थिति समान नहीं है, बल्कि उनमें ऊँच नीच का एक संस्तरण या उताव-चढ़ाव पाया जाता है। ऊँच नीच की इस व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान ऊँचा है और शूद्रों का स्थान सबसे नीचा। क्षत्रिय एवं वैश्य इनके मध्य में है। जन्म पर आधारित होने के कारण इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृ ढता पायी जाती है।

III - पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव (Lack of Unrestricted choice of Occupation)

प्रायः प्रत्येक जाति का एक परम्पराग त व्यवसाय होता है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है।कई जातियों के नाम से ही उनके व्यवसाय का बोध होता है। प्रत्येक जाति यह चाहती है कि उसके सदस्य निर्धारित जातिगत व्यवसाय ही करें। मुगल काल से जाति के प्रतिबन्ध ढीले होने लगें व वेन्स का मत है कि "जाति का पेशा परम्परागत होता है। परंतु यह किसी अर्थ में आवश्यक नहीं कि उसी पेशे के द्वारा सभी जातियां जीवन निर्वाह कर रही है"।

IV - नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यता एवं विशेषाधिकार (Civil and Religion Disabilities and Privilege)

जाति व्यवस्था में उच्च जातियों को कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त है, जबकि निम्न एवं अछूत जातियों को उनसे वंचित किया गया है। विशेषाधिकार दक्षिणी भारत में अछूत जातियों पर अनेक अयोग्यताएं लाद दी गयी।

V- भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध (Restriction on Food and Social Intercourse)

जाति व्यवस्था में जातियों के परस्पर भोजन एवं व्यवहार से सम्बन्धित अनेक निषेध पाये जाते है जैसे किसके हाथ का बना कच्चा भोजन करना है, किसके हाथ का बना पक्का भोजन करना है। सामान्यतया ऊँची जातियों के द्वारा बनाया गया भोजन निम्न जातियां स्वीकार कर लेती हैं। किन्तु निम्न

जातियों के लोगों द्वारा बनाया गया कच्चा व कभी-कभी पक्का भोजन भी उच्च जातियां स्वीकार नहीं करती है।

VI- विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध (Restriction on Marriage)

जाति की एक प्रमुख विशेषता है कि प्रत्येक जाति अपनी जाति या उपजाति में विवाह करती है। जाती की उपजाति से बाहर विवाह करने वाले को अपनी जाति एवं उपजाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। **वेस्टरमार्क** ने जाति अन्तर्विवाह को जाति का सार माना है। यद्यपि कुछ पर्वतीय जातियों एवं दक्षिण के नम्बूदरी ब्राह्मणों में अपने से निम्न जातियों की लड़कियों से विवाह करने की प्रथा पायी जाती हैं।

5.5.2 भारत मे जनजाति का अध्ययन :

जी0 एस0 घुर्ये ने अपने अध्ययन में जनजातियों पर व्यापक शोधकार्य किया है। इसके साथ इन्होंने जनजातियों के विशिष्ट मुद्दों पर भी अध्ययन किया है। उन्होंने अनुसूचित जनजातियों पर अपनी एक पुस्तक में भारत की जनजातियों के ऐतिहासिक, प्रशासनिक और सामाजिक आयामों का वर्णन किया।प्रो0 घुर्ये ने **महाराष्ट्र के कोलियों** का अध्ययन किया। घुर्ये के विचार से भारतीय जनजातियों की स्थिति पिछड़े हुए हिन्दुओं जैसी थी। इनके पिछड़ेपन का कारण था इनका हिन्दू समाज से पूरा एकीकृत न हो पाना। दक्षिण मध्य भारत में रहने वाले संथाल, भील और गोंड आदि जनजातियों के कुछ भाग हिन्दू समाज से पूर्णतया एकीकृत हो गये हैं। परिस्थतियों के मद्देनजर इनके बारे में यह कहा जा सकता है कि ये लोग हिन्दू समाज में पूर्ण रुप से वर्ग नहीं है। जनजातीय जीवन में हिन्दू धर्म के मूल्यों और प्रतिमानों को सम्मिलित करना एक सही कदम था। हिन्दूओं के सामाजिक वर्गो के साथ बढ़ते सम्पर्क के कारण जनजातियों ने धीरे-धीरे हिन्दुओं के कुछ मूल्यों और जीवन पद्धति को अपना लिया। फलस्वरुप जनजाति के लोगों ने शराब पीना छोड़ दिया। शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ कर दिया और हिन्दू कृषकों के प्रभाव से कृषि के तरीकों में भी सुधार किया। घुर्ये ने "The Scheduled Tribes" नामक पुस्तक में जनजातियों की समस्याओं एवं समाधान के बारे में विस्तार से चर्चा की है। इससे पहले "The Aborigins- so called and their future" नाम से घुर्ये ने पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में घुरिये ने जनजातियों के विभिन्न नामों जैस-आदिवासी, मूल निवासी, जनजाति, अनुसूचित जनजातियों आदि का उल्लेख किया है। साथ ही जनजातियों का हिन्दूओं, ईसाइयों

एवं अन्य लोगों के सम्पर्क एवं उनमे सात्मीकरण के कारण उत्पन्न समस्याओं का उल्लेख किया गया है। जनजातियों के प्रति अंग्रेज शासको की नीति का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु बुद्धिजीवियों द्वारा प्रस्तुत तीन दृष्टिकोण राष्ट्रीय उपवन(National Park) पृथक्करण (Isolation) एवं आत्मीकरण (Assimilation) का उल्लेख किया गया है।

5.5.3 भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका:

धर्म के समाजशास्त्र में अपने अध्ययन में घुर्ये ने धार्मिक विश्वास, कर्मकाण्ड, संस्कार तथा भारतीय परम्परा में साधु की भूमिका पर प्रकाश डाला है। घुर्ये के मतानुसार, प्राचीन भारत, मिश्र और बैबेलोनिया में धार्मिक चेतना धर्म स्थलों से जुड़ी हुई थी। घुर्ये ने भारतीय धर्म में विभिन्न देवी-देवताओं यथा-शिव, विष्णु और दुर्गा आदि के उद्भव और उनकी भूमिका का सारगर्भित विवेचन किया है। उन्होंने पूजा की वृहत स्तरीय पद्धति के साथ जुड़े हुए स्थानीय और उपक्षेत्रीय विश्वासों को उजागर किया है।

घुर्ये ने अपनी पुस्तक "Indian Sadhu's" की भूमिका मे इसका विवरण प्रस्तुत किया है | साधु का लक्षण बताते हुए वे कहते है की , "जीवन मे सम्पूर्ण त्याग और प्रत्याहार साधु के लिये आवश्यक है। वह निरीह, त्रिगुणातीत पूर्ण, वैरागी और समत्व बुद्धि वाला तथा दिव्य अंतःकरण से युक्त अहंकार मुक्त प्राणी होता है। काम,क्रोध,लोभ ,मोह, मद और मत्सर से ऊपर होता है। ये काभी भी सत्ता नहीं चाहते है। साधु ने हिन्दू समाज का पथ-प्रदर्शन किया। ये साधु एकांतवसई ना होकर, मठ व्यवस्था से जुड़े थे। मठ व्यवस्था से जुड़े इन साधुओं की अपनी विशिष्ट परंपरा है| घुर्ये ने कई प्रकार के साधुओं की चर्चा की है, इनमे शैव और वैष्णव साधु प्रमुख है।

घुर्ये का मत है कि भारत में अनेक पन्थों के विकास और विस्तार का आधार राजनीतिक के साथ-साथ लोक समर्थन भी रहा है। भारतीय संस्कृति के अनुसार ऐसा समझा जाता है कि साधुओं या संयासियों को सभी जाति प्रतिमानों, सामाजिक परम्पराओं आदि से मुक्त होना चाहिए। वस्तुतः जह समाज के दायरे से बाहर होता है। शैवमतावलंबियों में यह आम रिवाज है कि जब इनके समूह का कोई व्यक्ति संयास या आत्मत्याग के मार्ग को अपनाता है तो वे इसका 'नकली दाहसंस्कार' कर देते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वह समाज के लिए तो मृत समान लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से उसका पुनर्जन्म होता है।

5.6 सारांश :

प्रो. जी.एस घुर्ये भारतीय समाज की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विशेषताओं को समझने वाले प्रमुख समाजशास्त्री थे। उनका केंद्रीय विचार यह था कि भारत की विविधता के भीतर गहरी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है। उन्होंने जाति-व्यवस्था को भारतीय समाज की एक विशिष्ट सामाजिक-सांस्कृतिक संस्था माना और इसके प्रमुख तत्वों का विश्लेषण किया। घुर्ये ने संस्कृतिकरण, हिन्दूकरण, जनजातीय समाकलन तथा परिवार की संरचना पर महत्वपूर्ण कार्य किया। वे मानते थे कि भारतीय समाज को उसकी परंपराओं, ग्रंथों, प्रतीकों और सांस्कृतिक मूल्यों को समझे बिना नहीं समझा जा सकता।

5.7 निबंधनात्मक प्रश्न :

1. भारत में जी. एस. घूरिये की जाती व्यवस्था की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
2. जी. एस. घूरिये के अनुसार हिंदू समाज की संरचना का समाजशास्त्रीय विश्लेषण कीजिए।
3. भारतीय समाजशास्त्र के विकास में जी. एस. घूरिये के योगदान का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

5.8 बोध प्रश्नों के उत्तर :

1) ii

2) iii

5.9 संदर्भ ग्रंथ सूची :

- Momin, A.R. (ed.), The Legacy of G.S. Ghurye: A Centennial Festschrift, Bombay, Popular Prakashan, 1996.
- Pillai, S. Devadas, Indian Sociology Through Ghurye, A Dictionary, Mumbai Popular Prakashan, 1997.
- Pramanik, S.K., Sociology of G.S. Ghurye, Rawat Publications, Jaipur, 1994.
- Sarkar, Sumit, "Indian Nationalism and the Politics of Hindutva", in Ludden, 1996.

- Srinivas. M.N., Itineraries of an Indian Social Anthropologist", in Colleated Essays, New Delhi: Oxford University Press. Venugopal, An C.N., "G.S. Ghurye's Ideology of Normative Hinduism : Appraisal", Contributions of Indian Sociology, 20 (2): 305-14.
- Bose, Pradip Kumar, A Narrative of Caste and Race in India", in Momin, A.R. (ed.), The Legacy of G.S. Ghurye: A Centennial Festschrif, Bombay, Popular Prakashan, 1996.
- Carol Upadhyay, "The Hindu Nationalist Sociology of G.S. Ghurye", Sociological Bulletin, 51 (1), March 2002.
- Chakravarti, Uma, "Whatever Happened to the Vedic Dasi, Orientatism, Nationalism and a Script for the Part in K. Sangri and Vaid (Ed.); Recasting Women: Essays in Indian Colonial History, New Delhi, Kali For Women, 1983.
- cohn, Bernard, S. "Notes on the History of the Study of Indian Society" in Bernard S. Cohn, An Anthropologist among the Listarians and other Essays, 1987.

ईकाई 06
इरावती कर्वे (Irawati Karve)

ईकाई की रूपरेखा

6.0 प्रस्तावना

6.1 उद्देश्य

6.2 इरावती कर्वे का जीवन परिचय

6.3 इरावती कर्वे की रचनाएं

6.4 केन्द्रीय विचार

6.4.1 हिन्दू समाज

6.4.2 नातेदारी संगठन

6.4.3 युगांत

6.5 सारांश

6.6 निबंधनात्मक प्रश्न

6.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

6.0 प्रस्तावना :

भारतीय समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के क्षेत्र में इरावती कर्वे का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने भारतीय समाज का अध्ययन उसकी अपनी सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में किया। जाति, नातेदारी, परिवार और ग्रामीण समाज पर उनके अध्ययन भारतीय समाज की संरचना को समझने में सहायक हैं। इरावती कर्वे उन विदुषियों में थीं जिन्होंने पाश्चात्य वैज्ञानिक पद्धतियों और भारतीय परंपरागत दृष्टिकोण का समन्वय प्रस्तुत किया। इरावती कर्वे विश्वविद्यालय में जी. एस. घुर्ये के नेतृत्व में किया और पी. एचडी बर्लिन से यूजेन फिशल के निर्देशन में किया। शिक्षा समाप्ति के बाद सन 1939 से

लेकर अपनी मृत्यु तक इरावती कर्वे पुणे के प्रख्यात डेक्कन कॉलेज के स्नातकोत्तर विभाग और शोध सस्थान में कार्यरत रही। उन्हें सन् 1939 में "भारतीय विज्ञान कांग्रेस" के मानवशास्त्र विभाग के अध्यक्ष निर्वाचित होने का भी गौरव प्राप्त किया। उन्हें, संस्कृत, पाली और तमिल का भी ज्ञान था।

इरावती कर्वे के अध्ययन अनुसंधान के प्रमुख विषय मुख्यतया भारत की जनसंख्या में प्रजाति के तत्व, जाति की उत्पत्ति, ग्रामीण और नगरीय समदुायों का अध्ययन नातेदारी व्यवस्था,जाति समूह तथा पश्चिमी भारत की प्रादेशिक संस्कृति की विशेषताएं रही हैं। उन्होंने **मानवमितीय माप विधि** का प्रयोग करते हुए भौतिक मानव स्वास्थ्य के क्षेत्र में अनेक अध्ययन किए हैं। इस अध्ययन में उन्होंने सामाजिक समहों को भाषा के आधार पर विभाजित किया तथा सामान्य व्यवसाय के आधार पर उनके उद्गम का पता लगाने का प्रयास किया है।

इरावती कर्वे ने बताया कि किस प्रकार कुछ बहिर्विवाह समहों ने जाति का रूप ले लिया। इरावती कर्वे ने भारत में नातेदारी की सामाजशास्त्रीय एवं मानव शास्त्रीय अध्ययन की किया है। इस सबंधं में उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति "भारत में नातेदारी सगंठन,1953" रही है। इसमें उन्होंने भारत को चार प्रमखु क्षेत्रों में बाँटकर उनकी नातेदारी व्यवस्था का तलुनात्मक अध्ययन किया है। भारत में "नातेदारी सगंठन" नामक कृति में इन्होंने संयुक्त परिवार का विश्लेषण करते हुए सह-निवास, सह-भोज , सह-उपासना , सांझा संपत्ति और नातेदारी संबंधों को परिवार की प्रमुख विशेषता बताया है|

नातेदारी सगंठन के अतिरिक्त इरावती कर्वे की एक अन्य पुस्तक "हिन्दू समाज एक विवेचन" भी चर्चा का विषय रही है। इस पुस्तक में इरावती कर्वे ने भारतीय समाज के प्रमखु पक्ष जाति व्यवस्था का विश्लेषण किया है। जाति की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने इसकी दो प्रमखु विशेषताएं बताई हैं| अतर्विवाही समूह तथा जाति का एक पारंपरिक या पुश्तैनी व्यवसाय।

इरावती कर्वे अपने गुरु जी. एस.घर्ये की भांति हिन्दू समाज की सामाजिक संस्थाओं,कर्मकांडों में प्रतीक के साथ-साथ लोकगीतों, कथाओं और महाकाव्यों के विवेचन हेतु भारत विद्याशास्त्र संबंधी सभी स्रोत सामग्री का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग किया है। इरावती कर्वे ने भारतीय सामाजिक सरंचना के अध्ययन के बारे में बताया है कि जाति व्यवस्था संयुक्त परिवार और ग्रामीण समदुाय भारतीय सामाजिक सरंचना के तीन प्रमखु स्तंभ है। महाभारत पर लिखी गई उनकी अंतिम एक मराठी रचना "युगांतर" के लिए उन्हें साहित्य अकादमी और महाराष्ट्र सरकार द्वारा पुस्कृत भी किया गया।

6.1 उद्देश्य :

1. जाति एवं नातेदारी पर इरावती कर्वे के विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे
2. संयुक्त परिवार एवं हिन्दू समाज संबंधी उनके दृष्टिकोण को समझ सकेंगे
3. भारतीय समाजशास्त्र में उनके योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे

6.2 इरावती कर्वे का जीवन परिचय :

इरावती कर्वे भारतीय समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र की एक प्रमुख विदुषी थीं। उनका जन्म 15 दिसंबर 1905 को म्यांमार (तत्कालीन बर्मा) में हुआ। उनका मूल नाम इरावती धर्मानंद कोसंबी था। वे प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान आचार्य धर्मानंद कोसंबी की पुत्री थीं, जिससे उन्हें बचपन से ही बौद्धिक एवं विद्वतापूर्ण वातावरण प्राप्त हुआ।

इरावती कर्वे ने प्रारंभिक शिक्षा भारत में प्राप्त की। उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र को चुना। उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान जी. एस. घुर्ये के निर्देशन में अध्ययन किया। इसके बाद उन्होंने जर्मनी के बर्लिन विश्वविद्यालय से प्रसिद्ध मानवशास्त्री यूजेन फिशर के मार्गदर्शन में पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। यह उस समय किसी भारतीय महिला द्वारा प्राप्त की गई एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी।शिक्षा पूर्ण करने के बाद इरावती कर्वे सन् 1939 से अपनी मृत्यु (11 अगस्त 1970) तक पुणे के प्रसिद्ध डेक्कन कॉलेज, स्नातकोत्तर विभाग एवं शोध संस्थान में अध्यापन एवं शोध कार्य से जुड़ी रहीं। उन्होंने यहाँ मानवशास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। सन् 1939 में उन्हें भारतीय विज्ञान कांग्रेस के मानवशास्त्र विभाग की अध्यक्ष चुना गया। यह सम्मान उनके विद्वतापूर्ण कार्यों की राष्ट्रीय मान्यता को दर्शाता है।इरावती कर्वे केवल समाजशास्त्री ही नहीं, बल्कि एक उत्कृष्ट साहित्यकार भी थीं। महाभारत पर आधारित उनकी मराठी कृति "युगांत" अत्यंत प्रसिद्ध है। इस कृति के लिए उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा महाराष्ट्र सरकार द्वारा सम्मान प्राप्त हुआ। इरावती कर्वे का निधन 11 अगस्त 1970 को हुआ। उनके निधन से भारतीय समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र के क्षेत्र में एक अपूरणीय क्षति हुई।

6.3 इरावती कर्वे की रचनाएं :

1. **किनशिप आर्गनाईजेशन इन इंडिया,1953।**
2. **हिन्दू सोसायटी, 1961।**
3. **युगांत**
4. **Anthropology of Maharashtra**
5. **The People of India**
6. **Essays on Indian Society**

6.4 केन्द्रीय विचार :

कर्वे के मुख्य विचार हिंदू समाज और उसकी जाति व्यवस्था के साथ-साथ भारत में नातेदारी व्यवस्था पर केंद्रित थे। उन्होंने महाभारत पर विस्तार से लिखा एवं उस समय को समझने के लिए इस महाकाव्य के नायकों के ऐतिहासिक दृष्टिकोण और व्यवहार का उपयोग किया। कर्वे की शोध रुचियाँ प्रमुख रूप से भारतीय जनसंख्या की नस्लीय संरचना, भारत में नातेदारी व्यवस्था, जाति की उत्पत्ति और ग्रामीण एवं शहरी समुदायों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने में थी।

6.4.1 हिन्दू समाज

इरावती कर्वे ने हिन्दू समाज का अध्ययन एक जीवंत, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामाजिक संरचना के रूप में किया। उनकी प्रसिद्ध कृति "हिन्दू समाज : एक विवेचन" (Hindu Society: An Interpretation) में उन्होंने हिन्दू समाज की प्रमुख संस्थाओं, परंपराओं और सामाजिक संबंधों का समाजशास्त्रीय एवं मानवशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनका उद्देश्य हिन्दू समाज को केवल धार्मिक दृष्टि से नहीं, बल्कि सामाजिक संगठन के रूप में समझना था। इरावती कर्वे के अनुसार हिन्दू समाज कोई

एकरूप या समरूप समाज नहीं है, बल्कि यह विविधताओं से युक्त एक जटिल सामाजिक व्यवस्था है। इसमें विभिन्न जातियाँ, उपजातियाँ, भाषाएँ, क्षेत्रीय संस्कृतियाँ और जीवन-शैलियाँ सम्मिलित हैं। फिर भी कुछ साझा संस्थाएँ और मूल्य इसे एक सामाजिक इकाई के रूप में बाँधते हैं। हिंदू समाज, श्रीमती कर्वे की क्षेत्रीय यात्राओं से एकत्रित आंकड़ों पर आधारित एक अध्ययन है| जो हिंदी, मराठी, संस्कृत, पाली और प्राकृत के प्रासंगिक ग्रंथों के अध्ययन पर आधारित है। इस पुस्तक में उन्होंने पूर्व आर्यन के अस्तित्व की जाति व्यवस्था पर चर्चा की एवं इसके वर्तमान स्वरूप में इसके विकास का पता लगाया है। इरावती कर्वे के अनुसार, "भारतीय जाति समाज अर्ध-स्वतंत्र इकाइयों से बना एक समाज है, जिनमें प्रत्येक का अपना पारंपरिक व्यावहारिक प्रकार्य होता है। इसके परिणामस्वरूप जातीय समाज के मानदंडों और व्यवहार में विविधता आयी है। कर्वे अपनी पुस्तक **हिंदू समाज** में पाए जाने वाले जटिल प्रतिमानों मे जाति और हिन्दू समाज का उल्लेख करते हुए कहती हैं की जाति एक अंतर्विवाही नातेदारी समूह हैं जो एक-दूसरे से अलग होते हैं। एक समूह में जातियों की संख्या भारत के विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न होती है। जाति समाज की संरचनात्मक विशेषताओं पर चर्चा करते हुए कर्वे कहती हैं कि यह "ढीली" एवं "लचीली" है| आंतरिक रूप से जाति का अपना स्वतंत्र संगठन होता है, प्रत्येक जाति अपने आप में महत्वपूर्ण होती है। जाति पर किए गये उनके शोध मानवशास्त्रीय और रक्त समूह सर्वेक्षणों पर आधारित है| वह हिंदू समाज को कई अलग-अलग सांस्कृतिक संस्थाओं के एक ढीले-ढाले समूह के रूप में संदर्भित करती हैं। इरावती कर्वे के अनुसार हिन्दू समाज की सामाजिक संरचना मुख्यतः तीन प्रमुख स्तंभों पर आधारित है—

(क) जाति व्यवस्था – जाति व्यवस्था हिन्दू समाज की सबसे महत्वपूर्ण संस्था है। इरावती कर्वे के अनुसार जाति की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं—

I. **अंतर्विवाही समूह** – जाति के भीतर विवाह का नियम
II. **पारंपरिक या पुश्तैनी व्यवसाय** – जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता है

इरावती कर्वे का मानना था कि जाति व्यवस्था स्थिर नहीं है, बल्कि समय के साथ इसमें परिवर्तन होता रहा है। कई बहिर्विवाही समूह सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कर जाति का रूप ले लेते हैं।

(ख) संयुक्त परिवार – संयुक्त परिवार हिन्दू समाज की एक प्रमुख सामाजिक संस्था है। इरावती कर्वे के अनुसार संयुक्त परिवार की प्रमुख विशेषताएँ हैं— सह-निवास, सह-भोज, सह-उपासना, साझा

संपत्ति, नातेदारी संबंध। संयुक्त परिवार आर्थिक सुरक्षा, सामाजिक नियंत्रण और सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(ग) ग्रामीण समुदाय – इरावती कर्वे के अनुसार हिन्दू समाज की जड़ें मुख्यतः ग्रामीण समुदायों में निहित हैं। ग्राम भारतीय समाज की वह इकाई है जहाँ जाति व्यवस्था, परिवार प्रणाली और परंपराएँ प्रत्यक्ष रूप में दिखाई देती हैं। ग्रामीण जीवन हिन्दू समाज की सांस्कृतिक निरंतरता का आधार रहा है।

6. 4.2 नातेदारी संगठन :

अंग्रेजी भाषा के KINSHIP शब्द का अर्थ बंधुता,नेतेदारी एवं स्वजन से की है। नातदेारी एवं विवाह जीवन के आधारभतू तत्व हैं। यौन इच्छा, विवाह को जन्म देती है और विवाह, परिवार एवं नातेदारी को। नातेदारी में उन व्यक्तियों को सम्मिलित करते हैं जिनसे `हमारा सबंधं वंशावली के आधार पर होता है और वंशावली सबंधं परिवार से पैदा होता है और परिवार पर ही निर्भर हैं। ऐसे संबंधों को समाज की स्वीकृति आवश्यक है। कभी-कभी प्राणीशास्त्रीय रूप से सबंधं न होने पर भी यदि उन संबंधों को समाज ने स्वीकार कर लिया है, तो वे नातेदार माने जाते हैं।

नातेदारी के भेद (Types of Kinship)

सामाजिक संबंधों में वे सार्वभौमिक और आधारभतू सबंधं हैं, जो प्रजनन पर आधारित होते हैं। प्रजनन की कामना दो प्रकार के संबंधों को जन्म देती हैर:-

1. माता-पिता एवं संतानों के बीच तथा भाई बहनों के बीच बनने वाले सबंध- इन्हें हम "समरक्त सबंध" कहते हैं। जैसे- एक व्यक्ति के माता-पिता, भाई-बहन, दादा-दादी, मामा-मामी, नाना-नानी, चाचा, बअु आदि रक्त सबंधी हैं।

2. पति -पत्नी के मध्य बनने वाले इन दोनों पक्षों के बीच बनने वाले संबंध- जिन्हें "विवाह संबंध" कहते हैं। जैसे-सास-ससुर,नदं, भौजाई, जीजा, साली, साला, साडू, फूफा, भाभी, बहू आदि ।

नातेदारी की श्रेणियां (Categories of Kinship) – वे सभी नातेदार जो समान रूप से संपर्क, निकटता एवं घनिष्ठता नहीं रखतेहैं। कुछ हमारे अधिक निकट हैं, तो कुछ दूर, इस निकट घनिष्ठता एवं सपंर्क

के आधार पर हम नातेदारों को वि भि न्न श्रेणियों में बांट सकते हैं जैसे –प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक नातेदार।

इरावती कर्वे का क्षेत्रीय आधार पर नातेदारी की व्याख्या

इरावती कर्वे ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "भारत मे बंधुत्व संगठन"(Kinship Organization in India,1953) के अंतर्गत भारतीय समाज की नातेदारी व्यवस्था को क्षेत्रीय आधार पर चार भागों में बांटा है-:

1. उत्तरी क्षेत्र की नातेदारी - हिमालय तथा दक्षिण की विध्यानचल श्रंखला के बीच उत्तरी क्षेत्र की सीमा आती है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह क्षेत्र अत्यतं जटिल प्रकृति का है, क्योंकि जहां सिंधु का क्षेत्र मुसलमानों से प्रभावित रहा है, वहीं पंजाब में सदैव ही धर्म तथा समदुायों के बीच सघंर्ष होते रहे हैं। यहां भीमुस्लिम संस्कृति ने बंधुत्व एवं सम्बंधो पर अपना प्रभाव छोड़ा है। उत्तर प्रदेश में सैकड़ो वर्षो तक मुसलमानों की छत्र छाया के बावजदू हिन्दुत्व की धारणा बलवती रही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा दलित जाति के लोगों के बंधुत्व समहूों में कोई विशेष अतंर नहीं पाया जाता है,किन्तु कायस्थों का बंधुत्व सबसे पृथक है। इस जाति में संगोत्र विवाह तो निषेध है,किन्तु सप्रवर का नहीं। कायस्थों की इस मान्यता को लोग मुसलमानो का प्रभाव बताते हैं।

उत्तरी क्षेत्र के बंधुत्व संगठन मे परिहार-परिहास, आदर-सत्कार के अतिरिक्त पितृलोक परंपरा भी पाई जाती है। विवाह संबंधी नियमों के अनुलोम विवाह को स्वीकृति मिलती है तथा निषेध की दृष्टि से जाति, धर्म, भाषा समूह के बाहर विवाह करने की मान्यता नहीं पाई जाती है। सपिंड, सप्रवर तथा सगोत्र विवाह भी कठोर रूप से निषिद्ध होता है। परिवार का मुखिया प्रायः पुरूष रहता है,किन्तु परिवार मे पुत्रवधू के आते ही पारिवारिक बागडोर मुखिया की स्त्री के हाथ में आ जाती है। बंगाल के कुछ इलाकों में दादी-पोते तथा उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश में मामी-भांजे के मध्य परिहास सबंधं पाए जाते हैं। संबंधों की दृष्टि से ज्येष्ठ-अनुज, बहू तथा सास-दामाद के संबंध सर्वाधिक वर्जित माने जाते हैं। परिहास संबंधों की दृष्टि से देवर-भाभी, जीजा-साली के संबंध सर्वाधि क प्रचलित हैं। उत्तरी क्षेत्र के परिवार प्राय: पितृप्रधान हैं। समाज की दृष्टि से पुरूष का पद, स्त्री के परिवार की तुलना में उच्च होता है। इस क्षेत्र में भाई-बहन के संबंध बहुत भावनात्मक और पवित्र माने जाते हैं।

2. मध्य क्षेत्र की नातेदारी-

बंधुत्व संगठन के आधार पर मध्य क्षेत्र में राजस्थान, मध्यप्रदेश, गजुरात, काठियावाड़, महाराष्ट्र तथा उड़ीसा का क्षेत्र सम्मिलित किया जाता है। महाराष्ट्र में ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों के बीच विवाह स्वीकृत होता है तथा वहां की अधिकांश जातियां आपस में ही बहिर्विवाही कुलों में बटी हुई हैं। राजस्थान में नातेदारी संबंधों विशिष्ट मान्यता में एक ही घर में बुआ तथा भतीजी का विवाह श्रेष्ठ माना जाता है। इस नातेदारी को इरावती कर्वे ने विलिंग सहोदरज संतति विवाह का नाम दिया है। जहां महाराष्ट्र एवं गजुरात में मामा का मातुल्य बंधुत्व अधिक प्रबल होता है,वही राजस्थान, मध्यप्रदेश तथा उड़ीसा में बुआ का वर्चस्व रहता है। राजस्थान तथा काठियावाड़ के कुछ भागों में स्त्री का पद निम्न है। महाराष्ट्र तथा गजुरात में नातेदारी के अंतर्गत पर्दा या घूँगट का रि वाज नहीं है, जबकि मध्य प्रदेश में पर्दा प्रथा प्रचलित है। गजुरात में जीजा-साली विवाह को मान्यता प्राप्त है। गजुरात तथा काठियावाड़ में नियतकालिक विवाहों की भी प्रथा पाई जाती है। गर्भस्थ शिशुओं के विवाह का प्रावधान पाया जाता है। बेमेल विवाह अधिक होतेहैं, फलत: "नान्त्रा"नामक नए संबंध के रूप मे किसी स्वस्थ तथा कम आयु वाले युवक से स्त्री को विवाह तथा संतान उत्पत्ति की मान्यता होती है। इस क्षेत्र में विवाह के समय पिता की पांच तथा माता की तीन पीढियों के संबंधों का निषेध पाया जाता है। महाराष्ट्र में कुल तथा वंश के स्थान पर देवक की मान्यता प्रचलित है।

ममेरी-फुफेरे भाई-बहनों का विवाह वर्जित नहीं होता। इस क्षेत्र में सास-ससुर के लिए समान्यत: परिहार की नातेदारी स्वीकृत होती है। महाराष्ट्र में सास-ससुर को मामा-मामी कहने का रिवाज है। मामा-भांजी का विवाह भी प्रचलित है। इस विवाह में केवल गोत्र देखा जाता है।

पूर्वी क्षेत्र-:

भारत के सुदूर क्षेत्रों में कुछ ऐसे क्षेत्रीय समहू हैं जिनकी सीमा तिब्बत,वर्मा तथा चीन से मिलती हैं। मलाय प्रायद्वीप के अनामी, सतपड़ा की पहाड़ियों की पूर्वी सीमा पर रहने वाले को कोरकू जनजाति, पूर्वी असम की जयंतियाँ पहाड़ियों पर रहने वाली खासी जनजाति के सदस्य इस क्षेत्र की जनसंख्या के मुख्य आधार हैं। इस क्षेत्र से सभ्य तथा नगरीय समाज में भी भाषा तथा बंधुत्व प्रणाली की रीतियां वही है जो मूलरूप से उस क्षेत्र के वनवासियों की हैं। इनके वंश बहिर्विवाही होते हैं तथा वंश का विभाजन भी उपकुलों तथा अभिजात कुलों में होता है। इस क्षेत्र में प्राय: समस्त जनजातीय समाजों में नातेदारी की साहप्रसविता तथा सहकष्टी रीति निभाई जाती है। इस क्षेत्र में मातृवंशीय तथा मातृस्थानीय परिवार अधिक पाए जाते हैं। प्रायः विवाह के बाद दामाद, मामा-ससुर के पास रहता है। नागा जनजाति में उत्तराधिकार पिता से पत्रु को ही मिलता है,किन्तु विवाह के संदर्भ में स्त्री को पुरूषों से अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। गोंडों में ममेरे-फुफेरे,भाई-

बहनों में विवाह का निषेध नहीं है। हो, मुंडा तथा बोडारियों में युवग्रहों की भी मान्यता प्रचलित है। प्रायः इन समाज में क्रय विवाह एवं सेवा विवाह भी पाए जाते हैं। इस क्षेत्र में पुरूष का स्व अर्जित सपंत्ति पर ही अधिकार होता है। पारिवारिक वंशानुगत संपत्ति पर नहीं। उत्तराधिकार मां से बेटी की ओर चलता है, यही कारण है कि कई बार संपत्ति पर हक प्राप्त करने के लिए विधुर दामाद को अपनी सासु के साथ प्रतीकात्मक विवाह भी करना पड़ता है। दामाद विवाह के पश्चात ससुराल का सदस्य माना जाता है और अपने पितृकुल में भी उसकी अपनी माता की संपत्ति पर कोई अधिकार नहीं होता है। इन समाजों में कनिष्ठ पत्री का संपत्ति पर सर्वाधिक अधिकार होता है। मुण्डारी भाषा- मुंडा लोक पितृवंशीय तथा पितृस्थानीय होते हैं। इनमें भी बिलिंग सहोदरज संतति के विवाह नहीं पाए जाते हैं।

दक्षिणी क्षेत्र-:

इस क्षेत्र में कर्नाटक, आध्रं प्रदेश, तमिलनाडु, केरल तथा गोदावरी के निचले वन प्रदेशों में बसे जनजाति क्षेत्र आते हैं। अधिकाधिक समदुाय पितृवंशीय हैं किन्तु कुछ महत्वपर्णू वर्ग मातृवंशीय तथा पत्नी स्थानीय भी हैं। यहां के समाज में बहुपत्नी विवाह प्रचलित है। कुछ जातियों में बहुपति विवाह का भी निषेध नहीं है। कर्नाटक, आध्रं प्रदेश तथा तमिलनाडु में परिवार-सगंठन का आधार उत्तरी क्षेत्र की ही भांति पति स्थानिक होता है, जहां पुरुष का पद ऊंचा होता है, कन्या पक्ष वाले तुलनात्मक रूप से निम्न होते हैं और विवाह के पश्चात वधू को अपना जीवन ससुर के घर में व्यतीत करना पड़ता है बहिर्विवाही कुलों में विवाह की परंपरा के कारण विवाह-सीमा अत्यंत संकुचित हो जाती है। एक गांव की समस्त जाति एक ही पत्रु कुल की मानी जाती है। अतः एक गांव के लड़के-लड़की का विवाह सम्पन्न नहीं किया जा सकता। कुल नामों की परंपरा पशु या पौधों के नाम से चलती है। जबकि किन्ही दो परिवारों में विवाह संबंध होते हैं तो वह इसे निरंतर बनाए रखने का प्रयास करते हैं। आध्रं प्रदेश में ममेरे-फुफेरे भाई-बहनों के विवाह की मान्यता है, लेकिन मौसेरे भाई-बहनों को नहीं। इस क्षेत्र में प्रायः दो सगी बहनों का विवाह दो सगे भाइयों से करने का रिवाज पाया जाता है।

केरल के हिंदुओं में भ्रातृ का बहुपति प्रथा कुछ अंशों मे आज भी विद्यमान है। मोपलाओं में चचेरे मौसरे तथा फुफेरे भाई-बहनों के विवाह की अनुमति होती है। धन संपत्ति के अधिकार स्त्रियों तक ही सीमित होते हैं। मालावार के नम्बद्रूी ब्राह्मणों में पितृवंशीय परंपरा पाई जाती है। नागरों में भारवाड़ नामक संयुक्त परिवार पाया जाता है। इस क्षेत्र में रिश्तों की बजाय आयु का सम्मान होता है इस क्षेत्र में बंधुत्व शब्दावली पर मराठी, उड़िया तथा बिहारी भाषा का प्रभाव है।

I. बोध प्रश्न

1. इरावती कर्वे ने अपनी किस प्रसिद्ध पुस्तक में भारतीय समाज की नातेदारी व्यवस्था की चर्चा की है।
2. इरावती कर्वे की पुस्तक "हिन्दू सोसाइटी" किस वर्ष प्रकाशित हुई थी?

6.4.3 युगांत' :

''युगांत' इरावती कर्वे द्वारा लिखित महाभारत की समाजशास्त्रीय, मानवशास्त्रीय और साहित्यिक पुनर्व्याख्या है। यह ग्रंथ केवल महाकाव्य का पुनर्कथन नहीं करता, बल्कि प्राचीन भारतीय समाज, संस्कृति और मानव स्वभाव पर गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

कर्वे के अनुसार महाभारत के पात्र न तो पूर्णतः अच्छे हैं और न ही पूर्णतः बुरे। वे मानवीय गुण-दोषों, इच्छाओं, कमजोरियों, महत्वाकांक्षाओं और निर्णयों का मिश्रण हैं। कर्वे पात्रों का अध्ययन नैतिक उपदेश देने के बजाय वस्तुनिष्ठ और तथ्यात्मक दृष्टि से करती हैं, जिससे उनके मनोभाव—राग, द्वेष, क्रोध, साहस, त्याग—स्वाभाविक रूप से उजागर होते हैं। कर्वे यह स्पष्ट करती हैं कि महाभारत की कथा का विकास मौखिक परंपरा से हुआ। प्रारंभ में इसे सूतों द्वारा गाया जाता था और समय के साथ इसमें अनेक छोटी-बड़ी कथाएँ जुड़ती गईं, फिर भी मुख्य कथा का सूत्र बना रहा। महाभारत में अनेक कथावाचक हैं—जैसे 18 दिन के युद्ध का वर्णन संजय द्वारा धृतराष्ट्र को सुनाया जाना। विभिन्न सूतों की कथाओं के संकलन से यह महाग्रंथ विकसित हुआ। महाभारत का प्रभाव भारत के विभिन्न समुदायों पर भिन्न-भिन्न रूपों में पड़ा। बौद्धों को इसमें नैतिक शिक्षा मिली, जैनों और मराठियों को कृष्ण का चरित्र आकर्षित करता है, भगवद्गीता को देश-विदेश में व्यापक सम्मान प्राप्त हुआ और जनजातीय समुदायों ने भीम को लोकनायक के रूप में देखा। इस प्रकार महाभारत हर वर्ग और समुदाय के लिए अलग अर्थ रखती है। कर्वे का उद्देश्य आधुनिक पीढ़ी से संवाद स्थापित करना था। उनके अनुसार आज के समाज की समस्याएँ—सत्ता, संपत्ति, संघर्ष, निर्णय और नैतिक दुविधाएँ—महाभारत के पात्रों की समस्याओं से भिन्न नहीं हैं। मूल रूप से यह कथा हस्तिनापुर के सिंहासन को लेकर सत्ता और संपत्ति के संघर्ष की कहानी है, जो मानव समाज की शाश्वत समस्याओं को उजागर करती है। इस प्रकार कर्वे पात्रों को आदर्श नहीं, बल्कि सामान्य मनुष्य मानती हैं, जिनकी कमजोरियाँ पूरे समाज को प्रभावित करती हैं।एक मानवशास्त्री और समाजशास्त्री के रूप में कर्वे

मानव व्यवहार, नातेदारी, सत्ता-संघर्ष, सामाजिक संरचना और नैतिक द्वंद्वों का अध्ययन करती हैं। इसलिए 'युगांत' केवल महाभारत की व्याख्या नहीं, बल्कि मानव स्वभाव, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक निरंतरता का वैज्ञानिक अध्ययन भी है।

6.5 सारांश

इरावती कर्वे के अनुसंधान के प्रमुख क्षेत्र जाति व्यवस्था, नातेदारी संगठन, संयुक्त परिवार, ग्रामीण एवं नगरीय समाज तथा प्रजातीय अध्ययन रहे हैं। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति "भारत में नातेदारी संगठन" में भारत की नातेदारी प्रणालियों का वैज्ञानिक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने नातेदारी को सामाजिक संगठन की आधारशिला माना है। इकाई में उनके हिन्दू समाज संबंधी विचारों का भी अध्ययन किया गया है, जिसमें उन्होंने जाति व्यवस्था, संयुक्त परिवार और ग्रामीण समुदाय को भारतीय सामाजिक संरचना के तीन प्रमुख स्तंभ बताया है। इसके अतिरिक्त उनकी साहित्यिक कृति "युगांत" के माध्यम से उनके बहुआयामी व्यक्तित्व को समझा गया है।

6.6 निबंधनात्मक प्रश्न :

1. इरावती कर्वे के जीवन, शिक्षा एवं समाजशास्त्रीय योगदान का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. इरावती कर्वे द्वारा प्रतिपादित नातेदारी संगठन की अवधारणा का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।
3. "भारत में नातेदारी संगठन" पुस्तक के प्रमुख निष्कर्षों की व्याख्या कीजिए।
4. इरावती कर्वे के अनुसार हिन्दू समाज की संरचना का विश्लेषण कीजिए।

6.7 बोध प्रश्नों के उत्तर :

1. किनशीप ऑर्गनाइजेशन इन इंडिया

2. 1961

6.8 संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. कर्वे,.,(1961)., "हिन्दू समाज : एक विवेचन" पुणे: डेक्कन कॉलेज।
2. कर्वे, इरावती., (1969)., "युगांत" मुंबई: पॉपुलर प्रकाशन।
3. घुर्ये, जी. एस. (1969)., "भारत में जाति और प्रजाति" मुंबई: पॉपुलर प्रकाशन।
4. श्रीनिवास, एम. एन.(1966)., "आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन" नई दिल्ली: ओरिएंट लॉन्गमैन।
5. दुबे, एस. सी. (1990)., "भारतीय समाज" नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
6. मजूमदार, डी. एन., एवं मदन, टी. एन.(1956).' "भारत का सामाजिक मानवशास्त्र". मुंबई: एशिया पब्लिशिंग हाउस।
7. सिंह,योगेन्द्र.(1986)., "भारतीय समाजशास्त्रीय चिंतन" जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।
8. आहूजा, राम. (2001)., "भारतीय समाज" जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।

इकाई – 07
एम.एन. श्रीनिवास (M.N. Srinivas)

इकाई की रूपरेखा

7.0 प्रस्तावना

7.1 उद्देश्य

7.2 जीवन चित्रण तथा कृतियॉ

7.3 संस्कृतिकरण की अवधारणा

7.3.1 संस्कृतिकरण का अर्थ एवं परिभाषा

7.3.2 संस्कृतिकरण की विशेषतायें

7.3.3 संस्कृतिकरण के प्रभाव

7.3.4 प्रभु जाति

7.4 लौकिकीकरण (Secularization)

7.4.1 लौकिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

7.4.2 लौकिकीकरण की विशेषताऍ

7.4.3 लौकिकीकरण का प्रभाव

7.5 पश्चिमीकरण

7.5.1 पश्चिमीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

7.5.2 पश्चिमीकरण की विशेषताऍ

7.5.3 पश्चिमीकरण का प्रभाव

7.6 सारांश

7.7 पारिभाषिक शब्दावली

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

7.10 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

7.11 निबन्धात्मक प्रश्न

7.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

भारत में प्रमुख समाजशास्त्रियों में प्रो0 एम.एन.श्रीनिवास का एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रो0 श्रीनिवास ने सर्वप्रथम एक नवीन पद्धतिशास्त्र, "संरचात्मक – प्रकार्यात्मक उपागमन" (Structural Functional Approach) का प्रयोग करते हुए संस्कृतिकरण, लौकिकीकरण या धर्म निरप्रेक्षीकरण पश्चिमीकरण व प्रभु जाति जैसी नयी अवधारणाओं को विकसित किया। सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में यदि बात करे तो सामाजिक परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाओं में आपकी विचारधारा अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रस्तुत अध्याय में एम.एन.श्रीनिवास द्वारा अपनी अवधारणाओं के माध्यम से भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं जाति व्यवस्था को समझने में एक नवीन दृष्टिकोण को आसानी से समझा जा सकता है।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपके द्वारा समझना सम्भव होगा।

1. एम.एन.श्रीनिवास का जीवन परिचय एवं कृतियॉ
2. संस्कृतिकरण का अर्थ, परिभाषा एवं विशेषतायें
3. संस्कृतिकरण के सहायक तत्व एवं प्रभाव
4. प्रभु जाति
5. लौकिकीकरण का अर्थ, परिभाषा एवं प्रभाव
6. पश्चिमीकरण का अर्थ, परिभाषा, विशेषतायें एवं प्रभाव

प्रो0 एम.एन.श्रीनिवास का पूरा नाम मैसूर नर सिम्हाचार श्रीनिवास था। आपका जन्म मैसूर राज्य वर्तमान में कर्नाटक राज्य में सन् 1916 में हुआ था। मैसूर विश्वविद्यालय से बी.ए (ऑनर्स) की शिक्षा गृहण करने के पश्चात आप उच्च अध्ययन के लए बम्बई चले गये। आपके द्वारा स्नातकोत्तर की उपाधि प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ0 जी0एस0 घुरिये के दिशा निर्देशन में प्राप्त की, तत्पश्चात आप आगे की शिक्षा गृहण करने के लिए बिट्रेन चले गये, जहॉ आपका परिचय रेडक्लिफ ब्राउन और इवान्स प्रिचार्ड जैसे महान मानवशास्त्रियों से हुआ। पीएच0डी0 की उपाधि प्राप्त करने के लिए आपने भारत की कुर्ग (Coorgs) जाति का चुनाव किया । इस शोध अध्ययन में आपने संरचात्मक – प्रकार्यात्मक उपागम के लिए भारत की कुर्ग लोगों की सामाजिक संरचना और धर्म का विस्तृत अध्ययन किया ।

आक्सफोर्ड से अपनी शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात अपने स्वदेश लौटने के बाद आपके द्वारा बड़ोदरा में एम.एस. विश्वविद्यालय में "समाजशास्त्र विभाग" की स्थापना की गयी तत्पश्चात आपके द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय में "Delhi School of Economics" में शिक्षण कार्य के साथ शोध – कार्य का संचालन किया गया। बंगलौर (बंगलुरू) में आपने "सामाजिक आर्थिक परिवर्तन संस्थान की स्थापना की और वही पर एक गॉव रामपुरा" को विस्तृत अध्ययन के लिए चुना और उस गॉव में अध्ययन के लिए लम्बे समय तक रहे। ग्रामीण जीवन के विस्तृत अध्ययन के आधार पर प्रो0 श्रीनिवास ने "जाति व धर्म के संरचात्मक – प्रकार्यात्मक पक्ष को उजागार करते हुए भारतीय ग्रामीण जीवन और वहॉ की जातीय संरचना में हो रहे परिवर्तनों पर प्रकाश डाला और संस्कृतिकरण, लौकिकीकरण, पश्चिमीकरण व प्रभु जाति जैसी महत्वपूर्ण अवधारणाओं को विकसित कर समाजशास्त्रीय साहित्य को समृद्ध किया । समाजशास्त्र के क्षेत्र में आपके योगदान को देखते हुए "Royal Anthropological Institute, England" ने आपको "Rivers and Hexley" अलंकार प्रदान किये। भारत सरकार ने आपको "पदम भूषण " पदक से सम्मानित किया। सन् 1999 में प्रो0 श्रीनिवास इस संसार से विदा हो गये।" [1]

श्रीनिवास की प्रमुख कृतियाँ (Main works of srinivas)

प्रोफेसर एम. एन. श्रीनिवास की प्रमुख कृतियों का विवरण निम्नलिखित है-[2]

1. 1942 : "Marriage and Family in Mysore".

2. 1952 : "Religion and Society Among the Coorgs of South India".

3. 1955 : "India's Villages."

4. 1962 : "Caste in Modern India and Other Essays."

5. 1966 : "Social Change in Modern India."

6. 1969 : "India: Social Structure."

7. 1973 : "Itinerist of an Indian Social Anthropologist."

8. 1976 : "The Remembered Village."

9. 1976 : "Nation Building in Independent India."

10. 1977 : "Dimensions of Social Change in India."

11. 1981 : "My Vadodara Days."

12. 1986 : "The Dominant Caste and Other Essays."

13. 1989 : "The Cohesive Role of Sanskritization."

14. 1992 : "On Living in a Revolution and Other Essays."

15. 1993 : "Sociology in Delhi."

16. 1996 : "Village, Caste, Gender and Method."

17. 1996 : "Caste: Its Twentieth Century Avatar."

18. 1996 : "Indian Society Through Personal Writings."

7.3 संस्कृतिकरण की अवधारणा

एम.एन.श्रीनिवास की संस्कृतिकरण की अवधारणा का समाजशास्त्र में एक महत्वपूर्ण स्थान है। श्रीनिवास ने मैसूर के रामपुरा ग्राम का अध्ययन करते समय इस अवधारणा को विकसित किया। श्रीनिवास ने इस अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके अनुसार निम्न हिन्दू जातियॉ या जनजातियॉ, समूह में उच्च अथवा द्विज कही जाने वाली जातियों की दिशा में अपनी प्रथाओं, संस्कारों, विचारों तथा जीवन शैली को बदलने का प्रयत्न करती है।"[3] भारत में जब सामाजिक परिवर्तन की बात आती है तब श्रीनिवास द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओं में "संस्कृतिकरण" का विशेष महत्व है, जिसका विकास आपने अध्ययन मैसूर के रामपुरा ग्राम का अध्ययन के समय किया था, आपका मानना है कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में निम्न जाति के सदस्य जब ऊँची जातियों के संस्कारों व जीवन के ढ़ग का अनुसरण करके उन्ही के समान उच्च स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है तब ऐसी स्थिति को संस्कृतिकरण कहा जाता है।

7.3.1 संस्कृतिकरण का अर्थ एवं परिभाषा

डॉ0 एम.एन.श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक "Social Change in Modern India" में लिखा है कि "संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई भी निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्राय: द्विज जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन-पद्धति को बदलता है।"[4] इसी प्रकार श्रीनिवास ने आगे लिखा है कि संस्कृतिकरण का अर्थ केवल नवीन प्रथाओं व आदतों को गृहण करना ही नही अपितु पवित्र एवं लौकिक जीवन से सम्बन्धित नये विचारों एवं मूल्यों को भी प्रकट करना है, जिनका विवरण संस्कृत के विशाल साहित्य में बहुधा देखने को मिलता है। कर्म, धर्म, पाप, माया, संसार, मोक्ष, आदि संस्कृत के कुछ अत्यंत लोकप्रिय आध्यात्मिक विचार है और जब लोगो का संस्कृतिकरण हो जाता है तब वे अपनी बातचीत में इन शब्दो का बहुधा प्रयोग करने लगते है।[5] शाब्दिक दृष्टिकोण से यदि हम संस्कृतिकरण को स्पष्ट करे तो हम "संस्कृत" या "संस्कृति" शब्द से सम्बन्धित है। हिन्दू जीवन में संस्कारों का विशेष महत्व होता है और एक हिन्दू को अपने जीवन के परिमार्जित या शुद्धिकरण के उद्देश्य को लेकर अनेक प्रकार के संस्कार करने पड़ते है। वास्तव में इन्ही संस्कारों को संस्कृति मान लिया जाता है।[7]

प्रो0 योगेन्द्र सिंह ने संस्कृतिकरण की अवधारणा पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि "इस अवधारणा के दो पक्ष है – पहला ऐतिहासिक और दूसरा संदर्भात्मक, ऐतिहासिक सन्दर्भ में भारतीय समाज के इतिहास में संस्कृतिकरण सामाजिक गतिशीलता की एक प्रक्रिया है, संदर्भात्मक अर्थ में सापेक्षिक भाव में संस्कृतिकरण परिवर्तन की प्रक्रिया है।"[8]

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृतिकरण उस प्रक्रिया को माना जा सकता है जब निम्न जाति या समूह के लोग अपने से उच्च जाति के मूल्यों, संस्कारों एवं आदर्शो को गृहण तथा द्विज या उच्च जाति के समान अपने कर्मकाण्डो, विचारधारा एवं जीवनशैली को बदलने का प्रयास करता है उसे संस्कृतिकरण कहा जा सकता है।

7.3.2 संस्कृतिकरण की विशेषतायें

1. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में कोई भी जाति, जनजाति या समूह अपने से उच्च जाति की जीवन शैली जैसे उनके रीति रिवाज, कर्मकाण्ड, मूल्य एवं उनकी विचारधाराओं को अपनाकर उनके जैसा बनने का प्रयास करता है, उसे संस्कृतिकरण कहा जाता है।
2. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप निम्न जातियों के व्यक्तियों, जनजातियो एवं समूहो में अनेक प्रकार के महत्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगत होने लगते है।
3. संस्कृतिकरण के द्वारा निम्न जाति, जनजाति या समूह अपने से उच्च जाति का अनुकरण कर उन जैसा बनने का प्रयास करता है, जिसके फलस्वरूप एक जाति जातीय संस्तरण में उच्च पद या स्थिति प्राप्त करने में सक्षम होती है।

4. संस्कृतिकरण के एक आदर्श न होकर कई विभिन्न आदर्श हो सकते है, इस सन्दर्भ में श्रीनिवास ने माना है कि ब्राहमण जाति सदैव ही "आदर्श" के रूप में मानी जाये। उनका कहना है कि संस्कृतिकरण के एक या दो नही, बल्कि चार या कम से कम तीन "आदर्श" आवश्य मौजूद है, उनके शब्दों में "संस्कृतीय हिन्दुत्व के स्थानीय रूप में चार वर्णो के नामों का – ब्राहमण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्ध का उपयोग भले ही हो पर उनका सार स्थान के अनुसार बदलता रहता है और किसी विशेष स्थान क लिए उसको प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है। यह भी पता चला है कि इन विभिन्न वर्णो की अपेक्षिक प्रतिष्ठा और पद भी समय और समूहो के अनुसार बदलता है। बहुत बार जैसे राजाओं और योद्धाओं में जीवन शैली का पद ब्राहमण के बराबर या कभी-कभी उससे भी ऊँचा होता है। जो ऐसे समूह अपनी स्थिति को उठाना चाहते है वे राजपूत जीवन शैली के कुछ लक्षण अपनाकर अर्थात अपनी जीवन पद्धति के राजपूतीकरण" (सिन्हा) द्वारा ऐसा करते है, जिन क्षेत्रों में व्यापारी और किसान समूहों की प्रभुता होती है वहॉ उनकी जीवन-शैली को भी आदर्श मान लिया जाता है।"[9]

5. यह प्रक्रिया सामाजिक गतिशीलता को प्रकट करती है।

6. यह एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो इतिहास में प्रत्येक काल में दृष्टिगत होती है।

7. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में निम्न जातियों द्वारा केवल अपने से उच्च जातियों (द्विज जाति) का ही अनुसरण नही किया जाता बल्कि इन जातियों द्वारा अपने क्षेत्र की प्रभु जातियों जैसे – ब्राहमण, क्षत्रिय, तथा वैश्य जातियों का अनुसरण करके उनके जैसा बनने का प्रयास किया जाता है।

7.3.3 संस्कृतिकरण के प्रभाव

भारतीय समाज के सन्दर्भ में यदि बात करे तो संस्कृतिकरण का भारतीय समाज में एक गहरा प्रभाव पड़ा है। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप भारतीय समाज के अनेक क्षेत्रों में कई महत्वपूर्ण प्रभाव पड़े है जिन्हे निम्नांकित आधारों के आधार पर समझा जा सकता है।

1. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप निम्न जातियों की जीवन शैली में अनेको परिवर्तन दृष्टिगत होते है। निम्न जाति की विचारधारा में परिवर्तन आने लगा है साथ ही उनके व्यवहार प्रतिमान भी परिवर्तित होने लगे है। आज के आधुनिक समाज में उच्च जाति एवं निम्न जाति के मध्य किसी भी आधार पर भेद कर पाना असम्भव प्रतीत होता है।

2. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया समाज में प्रगतिशील विचारधारा को जन्म देती है, जिससे सामाजिक जीवन को और अधिक प्रगतिशील बनाया जा सकता है।

3. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जातिय नियमों की कठोरता में भी अत्यधिक कमी परिलक्षित होती है। सरल शब्दों में यदि कहे तो आज के आधुनिक समाज में परम्परागत जातीय नियम धीरे-धीरे परिवर्तित होने

लगे है जिससे परम्परागत कठोर जातीय नियम अब शिथिल होने लगे है। विचारधाराओं में परिवर्तन होने से छुआछुत एवं अस्पृश्यता समाज में समाप्त होने लगे है, जिससे पवित्रता एवं अपवित्रता जैसी जातीय अवधारणा धीरे-धीरे समाज से अपना अस्तित्व समाप्त कर चुकी है।

4. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप सामाजिक गतिशीलता को बढ़ावा मिलता है, जिससे निम्न जाति के व्यक्तियों की सामाजिक या जातीय स्थिति में उनकी प्रस्थिति एवं जीवन शैली में परिवर्तन परिलक्षित होने लगते है जो सदैव वर्तमान स्थिति से ऊपर की ओर होने वाली गतिशीलता को दर्शाता है।

5. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया सदैव एक जाति को जातीय संस्तरण में सदैव उच्च पद प्राप्त करने को प्रेरित करती है तथा उसे इस योग्य बनाती है कि वह अपनी स्थिति को और अधिक उच्च एवं उन्नत बना सके।

7.3.4 प्रभु जाति

1959 में जब श्रीनिवास ने मैसूर के एक गॉव "रामपुरा" का अध्ययन किया तब आपके द्वारा प्रभु जाति की अवधारणा भी विकसित की श्रीनिवास का मानना है कि "ग्रामीण भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है जिसका प्राय: मुख्य आधार जाति प्रथा होता है।" "वास्तव में श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में "प्रभु जाति" को महत्वपूर्ण बताया है। एम.एन.श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक "इडियन विलेजस" में प्रभु जाति की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "एक जाति तब प्रभु कही जाती है जब वह संस्था के आधार पर गॉव अथवा स्थानीय क्षेत्र में शक्तिशाली हो और प्रभावशाली, आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति रखती हो" यह आवश्यक नही है कि वह परम्परागत जाति क्रम सोपान में सर्वोच्च जाती ही हो।"[10]

श्रीनिवास के अनुसार[11] प्रभुता सम्पन्न होने वाली किसी भी जाति में न्मिनलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक है-

1. उसके स्वामित्व में अधिक से अधिक भूमि हो।
2. उस जाति के लोगों की संख्या अधिक हो।
3. वह स्थानीय जातियों के लोगों में कुछ ऊँची तथा प्रतिष्ठा प्राप्त हो।

प्रभु जाति की विशेषतायें -[12]

1. आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय
2. आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभुत्व
3. जाति व्यवस्था में उच्च सामाजिक स्थिति

4. संख्यात्मक शक्ति
5. सम्पूर्ण गॉव की एकता, न्याय एवं कल्याण के लिए कार्य करना

7.4 लौकिकीकरण (Secularization)

श्रीनिवास की अवधारणाओं में लौकिकीकरण का एक महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में भारतीय समाज में जब संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण की प्रक्रिया हुई तब उनके परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली सामाजिक दशाओं ने लौकिकीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया, जिसने व्यक्तियों की विचारधारा को परिवर्तित करने में अपनी मुख्य भूमिका का निर्वहन किया। लौकिकीकरण की प्रक्रिया ने व्यक्ति को तार्किक और व्यवहारिक रूप से सोचने और समझने के लिए प्रेरित किया। इस सन्दर्भ में श्रीनिवास का मानना है कि "अद्योगिकरण, उन्नत संचार-साधन, नगरों का विकास, स्वतन्त्रता, आधुनिक शिक्षा, सरकारी कानून, पाश्चात्य संस्कृति, सामाजिक गतिशीलता, सुधार आन्दोलन " आदि अनेक कारणों ने भारतीय जन-जीवन में लौकिकीकरण को प्रोत्साहित किया है।[13]

अभ्यास प्रश्न – 01

1. प्रो0 एम.एन.श्रीनिवास का पूरा नाम क्या है ?
2. श्रीनिवास ने अपने अध्ययन के लिए किस गॉव का चुनाव किया था ?
3. संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में किस जाति के सदस्य अपने से ऊची जातियों के संस्कार एवं जीवन के ढ़ग का अनुसरण करते है?
4. प्रो0 योगेन्द्र सिंह ने संस्कृतिकरण की अवधारणा को किन दो पक्षों मे विभक्त किया है?
5. श्रीनिवास ने अपनी किस पुस्तक में प्रभु जाति की अवधारणा को विकसित किया है?

7.4.1 लौकिकीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Secularization)

लौकिकीकरण अंग्रेजी शब्द "Secularization" का हिन्दी रूपान्तर है। समान्य अर्थो में यदि कहे तो लौकिकीकरण एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति के विचारों में तार्किकता का समावेश होने लगता है, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति की धार्मिक एवं परम्परागत विचारधारा परिवर्तित होकर तर्कसंगत एवं व्यवहारिक होने लगती है। जिसके परिणाम स्वरूप धार्मिक संकीर्णता समाज में कम होने लगती है। लौकिकीकरण को स्पष्ट करते हुए श्रीनिवास ने लिखा है कि "लौकिकीकरण शब्द में यह बात निहित है कि जिसे पहले धार्मिक माना जाता था, उसे अब वैसा नही माना जाता।"[14] साथ ही श्रीनिवास का यह भी मानना है कि "लौकिकीकरण का दूसरा आवश्यक तत्व बुद्धिवाद है जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त, परम्परागत विश्वासों और धारणाओं के स्थान पर आधुनिक ज्ञान की स्थापना निहित होती है।"[15] अत: स्पष्ट

है कि लौकिकीकरण की प्रक्रिया में ताकिक विचारधारा की प्रधानता होती है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में यदि देखे तो आज यह प्रक्रिया समाज में तेजी से बढ़ रही है, जिसमें सभी धर्मो को समान महत्व भी प्रदान किया जाता है। धर्म एवं धार्मिक विचारधारा की प्रधानता होने के कारण इसे कई बार "धर्मनिरपेक्षीकरण" भी कहा जाता है। श्रीनिवास की लौकिकीकरण की प्रक्रिया में वर्णित विचारधारा के अनुसार परम्परागत धार्मिक विश्वास के स्थान पर तार्किक सांसारिक एवं लौकिक तत्वों का समावेश अधिक होने के कारण इसे लौकिकीकरण की प्रक्रिया कहना ज्यादा उपर्युक्त प्रतीत होता है। जिसमें श्रीनिवास ने बुद्धिवाद तत्व को अधिक महत्व प्रदान किया है।

इन्साइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेस से अनुसार "बुद्धिवाद एक व्यापक शब्द है जिसका उपयोग उन अनेक सैद्धान्तिक और व्यवहारिक प्रवृत्तियों के लिए होता है जिनका लक्ष्य वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन को तार्किक आधार पर नियमित करना और तर्कहीन बातों को अस्वीकार करना होता है।"[16]

7.4.2 लौकिकीकरण की विशेषताएँ

लौकिकीकरण की विशेषताओं को निम्नांकित आधार पर समझा जा सकता है-

1. धार्मिक कर्मकाण्ड में परिवर्तन – प्राचीन समय से ही हिन्दू समाज में धर्म की प्रधानता रही है। लौकिकीकरण की प्रक्रिया से धार्मिक अनुष्ठानों एवं रूढ़िवादी परम्पराओं का प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगा है। धार्मिक कट्टरता एवं रूढ़िवादी विचारधारा वाले धार्मिक नियम धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगे है।

2. तार्किकता या बुद्धिवाद का विकास – लौकिकीकरण की प्रक्रिया में तार्किक चिन्तन एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रधानता दिया जाना लौकिकीकरण की मुख्य विशेषता है। श्रीनिवास के अनुसार "लौकिकीकरण का दूसरा आवश्यक तत्व है 'बुद्धिवाद' बुद्धिवाद या तार्किकता एक व्यापक शब्द है जो उन विविध सैद्धान्तिक तथा व्यावहरिक प्रवृत्तियों के लिए प्रयुक्त होता है जिनका लक्ष्य जगत की विशुद्ध चिन्तन के रूप में व्याख्या करना है, अथवा जो वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को तर्क-बुद्धि के सिद्धान्त के अनुसार नियमित करना और समस्त तर्कहीन बातों को यथासम्भव मिटाना अथवा पीछे धकेलना चाहती है। अन्य बातों के अतिरिक्त बुद्धिवाद में पारम्परिक विश्वासों और धारणाओं के स्थान पर आधुनिक ज्ञान की स्थापना निहित है।" [17]

3. विभेदीकरण – श्रीनिवास ने विभेदीकरण को लौकिकीकरण के प्रमुख तत्वों में विभेदीकरण को एक प्रमुख तत्व के रूप में महत्वपूर्ण माना है। आपका मानना है कि लौकिकीकरण की प्रक्रिया में विभेदीकरण की प्रक्रिया से समाज में विभेदीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिलता है। आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, शिक्षा, नैतिकता एवं कानूनी प्रक्रिया समाज में धार्मिक क्रियाओं से अलग एक स्वतन्त्र कार्यप्रणाली को विकसित करती है, जो सदैव व्यक्ति में धार्मिकता की भावना को कम करने का प्रयास करती है।

4. भौतिकवादी दृष्टिकोण की प्रधानता – लौकिकीकरण की प्रक्रिया से व्यक्ति में धीरे-धीरे अलौकिक शक्तियों के प्रति विश्वास कम होने लगा है, जिसके स्थान पर आधुनिक भौतिकतावादी दृष्टिकोण को प्रधानता दी जाने लगी है। आज के आधुनिक समाज में व्यक्ति भौतिक सुख सुविधाओं को अधिक महत्वपूर्ण स्थान देने लगे है।

5. अंधविश्वासों की कमी – लौकिकीकरण की प्रक्रिया के कारण आज आधुनिक समाज में व्यक्ति में अंधविश्वासों और रूढ़िवादी धार्मिक प्रथाओं में विश्वास कम होने लगा है। जिससे धार्मिक परम्पराओं, रीतिरिवाजो एवं धार्मिक प्रथाओं में अनेक परिवतन परिलक्षित होने लगते है।

7.4.3 लौकिकीकरण का प्रभाव

भारतीय समाज पर लौकिकीकरण का प्रभाव निम्नांकित आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है-

1. सामाजिक संरचना पर प्रभाव – लौकिकीकरण का सर्वाधिक प्रभाव भारतीय सामाजिक संरचना पर पड़ा, जिससे परम्परागत जाति सरंचना प्रमुख है। लौकिकीकरण के कारण जातियों के मध्य असमानता दूर होने लगी जिससे निम्न जातियों की निर्योग्यताएँ लगभग समाज से समाप्त होने लगी। समाज में अस्पृश्यता जैसी कुरीतियों को समाप्त करने में लौकिकीकरण ने मुख्य भूमिका का निवर्हन किया है। लौकिकीकरण के कारण ही अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्ध स्थापित होने लगे।

2. पवित्रता एवं अपवित्रता की धारणा में परिवर्तन – श्रीनिवास के अनुसार, "हिन्दू धार्मिक आचरण का कोई अध्येता अपवित्रता और पवित्रता की अवधारणाओं की उपेक्षा नही कर सकता। अपवित्रता और पवित्रता के लिए शब्द प्रत्येक भारतीय भाषा में मौजूद है और इनमें से प्रत्येक शब्द में अर्थ की ऐसी व्यापकता है कि सन्दर्भ के अनुसार उसके अलग-अलग अर्थ निकल आते है। इस भाति अपवित्रता से अभिप्राय मलिनता कलंक, दूषण और परोक्ष रूप से पाप का भी हो सकता है और पवित्रता का अर्थ स्वच्छता, पुण्यशीलता और परोक्ष रूप से धार्मिकता तक हो सकता है।"[18] परम्परागत समाज में पवित्रता और अपवित्रता जैसी मान्यताओं का विशेष महत्व होता था, लौकिकीकरण की प्रक्रिया से इन परम्परागत मान्यताओं में भी परिवर्तन परिलक्षित हो रहे है। परम्परागत समाजों में अस्पृश्य जातियों को 'अपवित्र' समझा जाता था किन्तु आज उनकी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सार्वजनिक निर्योग्याताएँ लगभग पूर्ण रूप से समाप्त हो गयी है। श्रीनिवास का मानना है कि "लौकिकीकरण का प्रभाव इस पवित्रता-अपवित्रता की धारणा पर व्यापक रूप से पड़ा है। पवित्रता- अपवित्रता की धारणा पिछले कुछ दशकों में क्षीण हुई है और उनकी व्यापकता भी घटी है"। उदाहरण के रूप में आपने कहा है "यात्रा और चाय की दुकानों की लोकप्रियता शहरियों तक ही सीमित नही, ग्रामीणों तक पहूँच चुकी है (इसमें पवित्रता – अपवित्रता की धारणा का विचार सम्भव नही है) शहरी जीवन के अपने अलग दबाव होते है और व्यक्ति का नित्य कम, उसके भोजन का समय, जाति और धर्म की अपेक्षा उसकी नौकरी से अधिक

निर्धारित होते है। गॉवो से शहर में आने वाले व्यक्ति किसी हद तक जाति और संगोत्रता के दबावों में छूट जाते है।"[19]

3. धार्मिक मान्यताओं पर प्रभाव – लौकिकीकरण का सबसे अधिक प्रभाव धर्म, धार्मिक मान्यताओं एवं धार्मिक जीवन पर पड़ा है। समाज में प्राचीन समय से व्याप्त धार्मिक अंधविश्वास, रूढ़िवादी रीति-रिवाज व परम्परायें व धार्मिक कट्टरता धीरे-धीरे समाप्त होने लगी है उसके स्थान पर तार्किक दृष्टिकोण एवं प्रगतिशील विचारधारा ने जन्म ले लिया है।

4. ग्रामीण समाज पर प्रभाव – लौकिकीकरण की प्रक्रिया ने ग्रामीण समाज की संरचना में व्यापक परिवर्तन ला दिये है। यह परिवर्तन मुख्य रूप से ग्रामीण समाज के आर्थिक सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में परिलक्षित होता है। इस सन्दर्भ में डॉ0 श्रीनिवास का मानना है कि, "पिछले कुछ दशकों में विशेषकर दूसरे महायुद्ध के बाद से ग्रामीण संचार के साधनों में व्यापक सुधार, बालिग मताधिकार, स्वशासन की स्थापना, अस्पृश्यता के उन्मूलन, ग्रामीण जनता में शिक्षा की बढ़ती हुई लोकप्रियता और सामुदायिक विकास योजना आदि के प्रभाव से ग्रामीणों की आकांक्षाएँ और विचार बदलते जा रहे है। वास्तविकता यह है कि लौकिकीकरण के प्रभाव से ग्रामीणों के विचार ही नही बदले है बल्कि उनकी समस्याओं में भी वृद्धि हुई है। आज प्रत्येक गॉव में लोग परस्पर विरोधी गुटो में बटे हुए है जिनके बीच अक्सर संघर्ष होते रहते है। पंचायतो और विधानसभाओं के चुनाव के समय यह संघर्ष कभी – कभी बहुत उग्र रूप धारण कर लेते है। आवगमन के साधनों में वृद्धि होने से गॉव के सामान्य लोग जब नगरों में जाते है तो वे वही की जीवन शैली का अनुसरण करने का प्रयत्न करने लगते है। नगर से वापस गॉवो में आने के बाद भी उनका अपने से निम्न जातियों के प्रति व्यवहार पहले जैसा भेदभाव पूर्ण नही रह जाता। गॉवों में अर्न्तजातीय विवाह आज भी केवल अपवाद के रूप में ही जाये जाते है, लेकिन विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक दूरी अब उतनी अधिक नही रही जितनी कुछ समय पहले तक थी। निम्न जातियों के शोषण की सीमा में भी लगातार कभी देखने में आ रही है।"[20]

5. पारिवारिक व्यवस्था पर प्रभाव – लौकिकीकरण ने जहॉ एक ओर ग्रामीण समाज के स्वरूप में अनेक परिवर्तन ला दिये है वही दूसरी ओर इस प्रक्रिया ने परिवार व्यवस्था पर भी व्यापक प्रभाव डाला है। आधुनिक समाज में इस प्रक्रिया ने संयुक्त परिवार को विघटित कर एकाकी परिवारों में परिवर्तित कर दिया है जिसमें प्राय: धार्मिक नियन्त्रण कम होता जा रहा है। इस सम्बन्ध में श्रीनिवास ने लिखा है कि "संचार-साधनों के विकास, नगरीकरण और औद्योगीकरण में वृद्धि और दफतर, कारखाने या सरकार में नौकरी से प्राप्त नकद आमदनी की प्रतिष्ठा ने संगोत्र समूहों को अपने जन्म के गॉवो और कस्बों से बाहर बिखरा दिया, किन्तु यह संकेत देना अत्यधिक अति-सरलीकरण होगा कि भारतीय परिवार-व्यवस्था संयुक्त से बदलकर ऐकाकी प्रकार की गयी है या होती जा रही है।"[21]

7.5 पश्चिमीकरण (Westernization)

डॉ0 श्रीनिवास जब सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को स्पष्ट करते है तब उन्होने पश्चिमीकरण की अवधारणा को महत्वपूर्ण माना है। सामाजिक परिवर्तन में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने अपनी एक महत्वपूर्ण भूमिका का निवर्हन किया है। श्रीनिवास का मानना था कि पश्चिमीकरण संस्कृति तथा बिट्रिश शासन व्यवस्था ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन ला दिये। श्रीनिवास की अवधारणाओं में पश्चिमीकरण का विशेष महत्व है।

7.5.1 पश्चिमीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Westernization)

पश्चिमीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कोई समाज जब किसी पश्चिमी समाज के सर्म्पक में आकर उनके मूल्यो, परम्पराओं, विश्वासों, एवं विचारधाराओं को अपनाकर पश्चिमी संस्कृति के अनुरूप परिवर्तित होने लगता है। इस सन्दर्भ में एम.एन.श्रीनिवास ने लिखा है "भारत में 150 वर्षो से भी अधिक बिट्रिश शासन के फलस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट करने के लिए ही मैने "पश्चिमीकरण" शब्द का उपयोग किया है। इनमें उन सभी परिवर्तनों का समावेश है जो प्रौद्योगिकी, विभिन्न संस्थाओं, विचारधारा और मूल्यों के विभिन्न स्तरों पर देखने को मिलते है।"[22] इस सम्बन्ध में डॉ0 योगेन्द्र सिंह का मानना है कि "पश्चिमीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें मुख्य रूप से मानवतावाद तथा बुद्धिवाद जैसी विशेषताओं का समावेश होता है। इसका तात्पर्य है कि पश्चिमीकरण का सम्बन्ध केवल इंग्लैण्ड की संस्कृति के प्रभावों से ही नही है बल्कि पश्चिमी संस्कृति में जिस मानवतावाद और बुद्धिवाद पर बल दिया गया, उसी के प्रभाव की प्रक्रिया को पश्चिमीकरण कहना अधिक उचित है। मानवतावाद और बुद्धिवाद पर बल पश्चिमीकरण का प्रमुख अंग है जिसने भारत में सामाजिक सुधार की प्रक्रिया आरम्भ की, वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक शिक्षा संस्थाओं की स्थापना राष्ट्रीयता का उदय, नयी राजनैतिक संस्कृति तथा नेतृत्व पश्चिमीकरण के सह-उत्पाद है।"[23] कुप्पुस्वामी के अनुसार, "पश्चिमीकरण का सम्बन्ध मुख्य रूप से तीन क्षेत्रों से है – (क) व्यवहार सम्बन्धी पक्ष, जैसे – खान-पान, वेश-भूषा, शिष्टाचार के तरीके तथा व्यवहार प्रतिमान आदि। (ख) ज्ञान सम्बन्धी पक्ष, जैसे - विज्ञान, प्रौद्योगिकी और साहित्य, (ग) सामाजिक मूल्य सम्बन्धी पक्ष, जैसे – मानवतावाद, धर्मनिरपेक्षता तथा समताकारी विचार, पश्चिम के प्रभाव से समाज के इन सभी पक्षों में होने वाले परिवर्तन पश्चिमीकरण से सम्बन्धित है।"[24] इस प्रकार स्पष्ट है कि पश्चिमी देशों के प्रभाव से जब भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों में परिवर्तन उत्पन्न होने लगता है जिसके परिणामस्वरूप हमारी विचारधारा, व्यवहार, खान-पान, वेशभूषा एवं सामाजिक मूल्यों में व्यापक प्रभाव परिलक्षित होने लगता है। इसे पश्चिमीकरण कहा जा सकता है।

7.5.2 पश्चिमीकरण की विशेषताएँ (Features of Westernization)

श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की विशेषताओं को निम्नांकित आधार पर स्पष्ट किया है-

1. श्रीनिवास का मानना है कि "पश्चिमीकरण शब्द नैतिक रूप से तटस्थ है। यह परिवर्तन के अच्छे या बुरे होने को सूचित नही करना बल्कि इसका सम्बन्ध प्रत्येक उस परिवर्तन से है जिससे पश्चिमी समाजों के अनुकरण का बोध होता है।"[25]

2. पश्चिमीकरण एक प्रक्रिया के रूप में स्पष्ट करता है कि जब कोई समूह पश्चिमी समाज की जीवन-शैली, उनके विचारों और उनकी सांस्कृतिक विशेषताओं को अपनाने लगता है, तब इसे पश्चिमीकरण कहा जाता है।

3. पश्चिमीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें मुख्य रूप से पश्चिम की वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक प्रगति ने भारतीय समाज को प्रभावित किया तथा अनेक परिवर्तन उत्पन्न किये।

4. पश्चिमीकरण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें परम्परागत मूल्यों के स्थान पर पश्चिमी मूल्यों को अधिक महत्वपूर्ण समझा जाता है। जैसे – समानता व्यक्तिवादिता, तार्किक विचारधारा एवं मानवतावाद इत्यादि।

5. पश्चिमीकरण का कोई भी एक निश्चित प्रारूप नही होता, अर्थात पश्चिमीकरण की प्रक्रिया किस देश के प्रारूप पर आधारित है यह बता सकना कठिन है, क्याकि बिट्रिश शासन के समय इग्लैण्ड व स्वतन्त्रता के पश्चात रूस और अमेरिका से बढ़ते सम्बन्ध के कारण यह बता पाना कठिन है कि भारतीय समाज में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का प्रभाव सर्वाधिक प्रभाव किस देश का पड़ा।

अभ्यास प्रश्न – 02

1. लौकिकीकरण किस अंग्रेजी शब्द का हिन्दी रूपान्तर है ?
2. श्रीनिवास के अनुसार लौकिकीकरण का दूसरा आवश्यक कौन सा है ?
3. डॉ0 योगेन्द्र सिह के अनुसार पश्चिमीकरण की प्रक्रिया में किन विशेषताओं का समावेश होता है?
4. पश्चिमीकरण की प्रक्रिया से संयुक्त परिवार टूट कर किस रूप में परिवर्तित होने लगें?
5. श्रीनिवास ने प्रभुता सम्पन्न होने वाली जातियों की मुख्य कौन-कौन सी विशेषतायें आवश्यक बताई है?

7.5.3 पश्चिमीकरण के प्रभाव (Effects of Westernization)

पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप भारतीय समाज में अनेको परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। इन परिवर्तनों को निम्नांकित आधार पर समझा जा सकता है।

1. पश्चिमीकरण का सर्वाधिक प्रभाव धार्मिक विचारधाराओं पर पड़ा। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने व्यक्ति की विचारधारा एवं मनोवृत्तियों पर परिवर्तन लाकर मानवतावाद तथा सामाजिक समानता पर बल दिया,

पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन आदि विचारधारा का भी प्रभाव कम होने लगा।

2. पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने जाति व्यवस्था में भी अनेको परिवर्तन लाने में अपनी एक महत्वपूर्ण भूमिका का निवर्हन किया है। विचारों में परिवर्तन आने से जातिगत विभाजन एवं ऊच-नीच की भावना का विरोध किया जाने लगा तथा समानता के भाव को प्रथमिकता दी जाने लगी।

3. पश्चिमीकरण के प्रभाव एवं पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव में आकर पारिवारिक व्यवस्था के परम्परागत स्वरूप में भी अनेको परिवर्तित आने लगे, जिसके परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार विघटित होकर एकाकी परिवारों में परिवर्तित होने लगे। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता एवं कुशलता के आधार पर उच्च शिक्षा को प्राप्त कर उच्च प्रस्थिति को प्राप्त कर स्वतन्त्रत आय एवं स्वतन्त्रत जीवन का चुनाव करना लगा। महिलाये अर्थोपार्जन के क्षेत्र में आने लगी, जिसके फलस्वरूप परिवार के स्वरूप एवं कार्यप्रणाली में परिवर्तन आने लगा।

4. पश्चिमीकरण के प्रभाव से विवाह संस्था में भी अनेक परिवर्तन परिलक्षित हुए, बाल विवाह, बहुपत्नी विवाह एवं अन्तर्विवाह के स्थान पर विलम्ब विवाह, योग्य जीवन साथी का चुनाव एवं अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा मिला।

5. पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने हमारे परम्परागत व्यवहार को परिवर्तित करके आधुनिक जीवन शैली को अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया, जिसमें मुख्य रूप से काटे-छुरी का प्रयोग, शिष्टाचार सम्बन्धी व्यवहार, पश्चिमी पहनावा, पश्चिमी भोजन एवं सभ्यता का समावेश इत्यादि।

6. शिक्षा के क्षेत्र में भी व्यापक परिवर्तन पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए, परम्परागत शिक्षा के स्थान पर आधुनिक शिक्षा जो तर्क और विज्ञान पर आधारित थी तथा एक ऐसी शिक्षा जो बिना किसी भेदभाव के सर्वसुलभ थी, जिसके फलस्वरूप समाज में सामाजिक समानता, वैज्ञानिक एंव स्वतन्त्रता विचारों को प्रोत्साहन मिलने लगा।

7.6 सारांश

उपरोक्त अध्याय के सम्पूर्ण विवेचना के पश्चात कहा जा सकता है कि एम.एन.श्रीनिवास भारत के प्रमुख समाजशास्त्रियों में अपनी एक अलग पहचान बनाये हुए है। भारतीय समाज में होने वाले सामाजिक परिवर्तन की यदि बात करे तो श्रीनिवास की अवधारणाओं में संस्कृतिकरण, प्रभु जाति, लौकिकीकरण तथा पश्चिमीकरण का एक महत्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि हम सब जानते है कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है तथा कोई भी समाज ऐसा नही है जो इस प्रक्रिया से अछूता हो, परिवर्तन की प्रक्रियाओं में कुछ प्रक्रियायें ऐसी होती है जो बाह्य कारको के रूप में समाज में परिवर्तन उत्पन्न करती है जबकि कुछ प्रक्रियायें आन्तरिक कारको के रूप में समाज को प्रभावित करती है, अत: संस्कृतिकरण आन्तरिक कारक

के रूप में समाज को परिवर्तित करने का काम करती है जबकि पश्चिमीकरण बाह्य कारक के रूप में समाज में परिवर्तन उत्पन्न करती है। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में निम्न जाति, उच्च जाति या द्विज जाति के व्यक्तियों की सांस्कृतिक विशेषताओं को अपनाकर उन जैसा बनने का प्रयास करती है। पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप समाज में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते है। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया में जब प्रौद्योगिकी, नवीन विचारधारा एवं मूल्यों में पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क में आकर परिवर्तन होने लगते है उसे पश्चिमीकरण कहा जाता है। संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं ने जब समाज के विभिन्न स्तरों एवं परिप्रेक्ष्यों में परिवर्तन लाने का कार्य किया तब इन दोनो प्रक्रियाओं के संयुक्त प्रभाव से समाज में एक नया परिवर्तन दृष्टिगत होने लगा जिसे लौकिकीकरण की प्रक्रिया कहा जाता है। इस प्रक्रिया से पवित्रता और अपवित्रता जैसी विचारधारा में परिवर्तन आने लगा, साथ ही परम्परागत विचारधारा एवं धारणाओं के स्थान पर तर्क एवं बुद्धिवादी विचारधारा का जन्म हुआ।

7.7 परिभाषिक शब्दावली

1. संस्कृतिकरण – "संस्कृतिकरण की प्रकिया में निम्न हिन्दू जाति, जनजाति या समूह किसी उच्च या द्विज जाति के रिति-रिवाज, कर्मकाण्ड एवं विचारधारा को अपनाकर उस जैसा बनने का प्रयास करता है, संस्कृतिकरण कहलाता है।"
2. लौकिकीकरण – "लौकिकीकरण उस प्रक्रिया को कहा जाता है जिसमें अन्धविश्वास के स्थान पर तार्किक विचारधारा को प्राथमिकता दी जाती है।"
3. पश्चिमीकरण – "पश्चिमी देशों के संयुक्त प्रभाव से भारतीय समाज एवं संस्कृति में प्रभाव पड़ने के उपरान्त होने वाले परिवर्तन को पश्चिमीकरण कहा जाता है।"

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 01 के उत्तर

1. मैसूर नर सिम्हाचार श्रीनिवास
2. कर्नाटक के मैसूर के पास स्थित रामपुरा गॉव
3. निम्न हिन्दू जातियॉ या जातियॉ
4. ऐतिहासिक एवं संदर्भात्मक
5. "इंडियन विलेजस"

अभ्यास प्रश्न 02 के उत्तर

1. Secularization
2. बुद्धिवाद
3. मानवतावाद तथा बुद्धिवाद
4. एकाकी परिवार
5. श्रीनिवास ने तीन विशेषताये आवश्यक बताई है-

1- स्वामित्व से अधिक भूमि

2- अधिक जनसंख्या

3- स्थानीय जातियों के कुछ लोगो से उच्च प्रतिष्ठा

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मुकर्जी एवं अग्रवाल, "समाजशास्त्र" एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स आगरा – 2020 पे0न0 – 67
2. उपरोक्त पे0न0 – 68
3. यादव गणेश राम, "भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिंतक" – 2014, ओरियंट ब्लैकस्वॉन हैदराबाद, पे0न0 – 93
4. M.N Srinivas, Social Change in Modern India, University of California Press, Pg – 06
5. उपरोक्त पे0न0 – 48
6. यादव राम गणेश, "भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिन्तक – 2014" ओरयंट ब्लैकस्चॉन हैदराबाद, पे0न0 – 94
7. M.N Srinivas, Social Change in Modern India, University of California Press, Pg – 48
8. यादव राम गणेश, "भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिन्तक – 2014" ओरयंट ब्लैकस्चॉन हैदराबाद, पे0न0 – 94
9. डॉ0 एम.एन.श्रीनिवास, "भारत में सामाजिक परिवर्तन" राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 1967 पे0न0 – 23
10. यादव राम गणेश, "भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिन्तक – 2014" ओरयंट ब्लैकस्चॉन हैदराबाद, पे0न0 – 102

11. उपरोक्त पे0न0 – 102

12. उपरोक्त पे0न0 – 102

13. मुकर्जी एवं अग्रवाल, "समाजशास्त्र" एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स आगरा – 2020 पे0न0 – 76

14. M.N Srinivas, Social Change in Modern India, University of California Press, Pg – 119

15. उपरोक्त पे0न0 – 119

16. अग्रवाल "समाजशास्त्र " एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स आगरा – 2011 पे0न0 – 171

17. एम.एन.श्रीनिवास, "आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन" राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली – 1967 पे0न0 – 108

18. उपरोक्त पे0न0 – 108

19. उद्धत मुकर्जी व अग्रवाल, "समाजशास्त्र" एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स – 2020 पे0न0 – 80

20. उद्धत – जी.के.अग्रवाल, "समाजशास्त्र" – 2011 एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स पे0न0 – 175

21. एम.एन.श्रीनिवास, "आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन" राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली – 1967 पे0न0 – 122

22. उपरोक्त पे0न0 – 47

23. Yogendra Singh, "Modernization of India Traditions" Pg – 09

24. B. Kuppuswami, "Social Change in India" Pg – 62

25. उद्धत – जी.के.अग्रवाल, "समाजशास्त्र" – 2011 एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन्स पे0न0 – 152

7.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. एस.एन.श्रीनिवास, "आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन" – 2005

2. जी.के.अग्रवाल "समाजशास्त्र" – 2004

3. डॉ0 अमित अग्रवाल "समाजशास्त्र" – 2012

4. राम गणेश यादव, "भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिन्तक" – 2014

7.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संस्कृतिकरण से आप क्या समझते है? इसमें श्रीनिवास का योगदान बताइयें ?
2. एम.एन.श्रीनिवास का जीवन परिचय एवं कृतियों का उल्लेख कीजिए ?
3. पश्चिमीकरण की अवधारणा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए ?
4. भारतीय समाज में लौकिकीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए ?
5. प्रभु जाति को स्पष्ट करते हुए उसकी विशेषतायें लिखिए

7.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पश्चिमीकरण के अर्थ को संक्षेप में समझाइये?
2. पश्चिमीकरण तथा संस्कृतिकरण में अन्तर बताइये?
3. श्रीनिवास के अनुसार लौकिकीकरण की किन्ही दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करियें ?
4. संस्कृतिकरण पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए ?
5. भारतीय समाज पर संस्कृतिकरण से पड़ने वाले प्रभावों को स्पष्ट करियें ?
6. प्रभु जाति किसे कहते है ?
7. लौकिकीकरण की विशेषतायें लिखिए ?

इकाई- 08

एस. सी. दुबे (S. C. Dube)

इकाई की रूपरेखा-

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 एस. सी. दुबे का जीवन परिचय एवं प्रमुख रचनाएँ

8.2.1 एस. सी. दुबे का जीवन परिचय

8.2.2 एस. सी. दुबे की प्रमुख रचनाएँ

8.3 एस. सी. दुबे का पद्धातिशास्त्र एवं परिप्रेक्ष्य

8.4 ग्रामीण अध्ययन

8.4.1 शमीरपेट

8.4.2 भारत के बदलते गाँव

8.5 परम्परा एवं आधुनिकीकरण

8.5.1 परम्परा का अर्थ एवं परिभाषा

8.5.2 परम्परा की विशेषताएं

8.5.3 परम्परा के प्रकार

8.5.4 आधुनिकता का अर्थ और परिभाषा

8.5.5 आधुनिकीकरण की विशेषताएं

8.6 विकास की अवधारणा

8.7 प्रभु व्यक्ति की अवधारणा

8.8 सारांश

8.9 शब्दावली

8.10 निबंधात्मक अभ्यास प्रश्न

8.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.12 सहायक उपयोगी पाठ्य-सामग्री

8.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप-

- एस. सी. दुबे के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।
- एस. सी. दुबे के पद्धतिशास्त्र एवं परिप्रेक्ष्य से परिचित हो सकेंगे।
- एस. सी. दुबे के प्रमुख ग्रामीण अध्ययनों से परिचित हो सकेंगे।
- एस. सी. दुबे की प्रमुख अवधारणाओं से परिचित हो सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

एस. सी. दुबे अर्थात् श्यामाचरण दुबे अग्रणी समाजशास्त्रियों, मानवशास्त्रियों और साहित्यकारों में से एक रहे हैं। श्री दुबे की ख्याति विभिन्न राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय संस्थानों में सलाहकार के रूप में और कुशल प्रशासक के रूप में भी रही है। इस प्रकार भारतीय समाजशास्त्र के इतिहास में एस. सी. दुबे एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। दुबे का अध्ययन कार्य आदिवासियों के अध्ययन से प्रारंभ होकर विकास और आधुनिकीकरण तक जाता है। एस. सी. दुबे, उनके पद्धतिशास्त्र और परिप्रेक्ष्य को समझना भारतीय समाजशास्त्र को समझने के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस इकाई में मुख्य रूप से श्यामाचरण दुबे के व्यक्तित्व और कृतित्व का वर्णन दिया गया है। इसके साथ ही एस. सी. दुबे के पद्धतिशास्त्रीय परिप्रेक्ष

संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक परिप्रेक्ष्य का विवेचन किया गया है। इस परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत एस. सी. दुबे द्वारा किए गए ग्रामीण अध्ययन, शमीरपेट एवं भारत के बदलते गांव के साथ ही इस इकाई में श्री दुबे जी द्वारा दिया गया परंपरा और आधुनिकता का विश्लेषण, विकास की अवधारणा को इस इकाई में सम्मिलित किया गया है।

8.2 एस. सी. दुबे का जीवन परिचय एवं प्रमुख रचनाएँ

एस. सी. दुबे जो प्रख्यात मानवशास्त्री, समाजशास्त्री एवं सामाजिक विचारक रहे हैं। एस. सी. दुबे का जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व संक्षेप में निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है-

8.2.1 एस. सी. दुबे का जीवन परिचय

श्यामाचरण दुबे का जन्म मध्यप्रदेश के बुंदेलखंड के नरसिंहापुर गांव में 25 जुलाई 1922 को हुआ था। सात से आठ वर्ष की अल्पायु में ही श्री दुबे जी की माता जी का निधन हो गया। इसके बाद आपका आगामी जीवन अपने पिताजी, जो कि कोर्ट ऑफ वर्ड्स के प्रबंधक थे, उनके संरक्षण में पढ़ते लिखते बीता। श्री दुबे की हिंदी एवं अंग्रेजी दोनों ही भाषा में मजबूत पकड़ रही। दसवीं कक्षा से ही हिंदी पत्रिकाओं में श्री दुबे जी के लेख प्रकाशित होने लगे थे। एस. सी. दुबे ने नागपुर से राजनीति विज्ञान में ऑनर्स प्रथम श्रेणी में प्राप्त करने के बाद उच्च शिक्षा की पढ़ाई की। आपको नागपुर विश्वविद्यालय से ही पीएचडी की डिग्री भी प्राप्त हुई। श्री दुबे का शोध मध्यप्रदेश की कमार जनजाति पर रहा, जो कि झूम कृषि करने वाली जनजाति थी। आपने स्कूल ऑफ ओरिएंटल एंड अफ्रीकन स्टडीज़ एवं लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से शिक्षा प्राप्त की और रेमंड फ़र्थ सहित अनेक प्रसिद्ध शिक्षाविदों के संपर्क में रहे।

व्यावसायिक एवं अकादमिक योगदान-

एस. सी. दुबे का भारतीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में अकादमिक योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। आपने भारत और विदेशों के कई विश्वविद्यालयों में मानवशास्त्र और समाजशास्त्र विषय के अध्यापन का कार्य किया। श्री दुबे ने अपने व्यावसायिक जीवन की शुरुआत नागपुर, महाराष्ट्र के बिशप कॉलेज में व्याख्याता के रूप में की थी। कालान्तर में आप लखनऊ विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग में भी सम्मिलित हो गए। लखनऊ विश्वविद्यालय में कार्यरत रहते हुए ही आपने `दि कमार` नाम से पुस्तक प्रकाशित करवाई,

जो उनके शोध अध्ययन का केंद्रीय विषय था। डी. एन. मजुमदार के संपर्क में आकर श्री दुबे ने अपने मानवशास्त्री अध्ययन को और गहन और उत्तम बनाया। श्री दुबे ने `द ईस्टर्न एंथ्रोपोलॉजिस्ट` नामक पत्रिका का संपादन एवं प्रकाशन डी. एन. मजुमदार के साथ मिलकर किया। हैदराबाद के उस्मानिया विश्वविद्यालय में `वॉन फुरेर हैमेनडार्फ` के स्थान पर रीडर के पद पर नियुक्त हुए। बाद में उस्मानिया विश्वविद्यालय छोड़ कर आपने नागपुर में स्थित भारतीय मानव विज्ञान सर्वेक्षण में उपनिदेशक का पद प्राप्त किया, तत्पश्चात आप ने मध्य प्रदेश के सागर विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान के प्रोफेसर पद को सुशोभित किया। श्री दुबे ने `इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडी शिमला` में 1972 से 1977 तक निदेशक के रूप में, `जम्मू विश्वविद्यालय` के कुलपति के रूप में 1978 से 1983 तक कार्य किया। ऐसे ही आपने यूनेस्को और यूनाइटेड नेशन्स की विभिन्न राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं में भिन्न-भिन्न पदों पर कार्य किया। 1976 में श्री दुबे समाजशास्त्रीय जगत की महत्वपूर्ण संस्था अखिल भारतीय समाजशास्त्रीय परिषद के अध्यक्ष के रूप में भी कार्यरत रहे। मध्यप्रदेश उच्च शिक्षा अनुदान आयोग के सदस्य रहते हुए आपने विश्वविद्यालय स्तर पर पाठ्यक्रमों का आधुनिकीकरण करवाया।

वर्ष 1993 में श्री दुबे को उनकी प्रसिद्ध कृति `परंपरा और इतिहास बोध` के लिए भारतीय ज्ञानपीठ ने मूर्तिदेवी पुरस्कार से पुरस्कृत किया था। एस. सी. दुबे का निधन 4 फरवरी 1996 को 73 वर्ष की आयु में हुआ। इस प्रकार श्री दुबे ने समाजशास्त्रीय जगत को प्रकाशित सूर्य की तरह आलोकित किया। आने वाली नवीन पीढ़ियों के लिए एस. सी. दुबे का व्यक्तित्व, कृतित्व, मेथोडोलॉजी एवं सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य भारतीय समाजशास्त्र के लिए आधारशिला एवं कुशल मार्गदर्शन देने वाला है।

8.2.2 एस. सी. दुबे की प्रमुख रचनाएँ

दुबे ने अपना पहला अध्ययन कमार जनजातियों पर किया था। कमार जनजातियां स्थानांतरित कृषि करने वाले आदिवासी रही हैं। दुबे की प्रमुख रचनाओं को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है-

- दि कमार (1954)
- इंडियन विलेज (1955)
- इंडियाज़ चेंजिंग विलेजेस (1958)

- पावर एंड कॉन्फ्लिक्ट इन विलेज इंडिया (1958)
- एसेज ऑन मॉडर्नाइजेशन (1971)
- एक्सप्लेनेशन ऐंड मैनेजमेंट ऑफ चेंज (1973)
- कंटेम्परेरी इंडिया ऐंड इट्स मॉडर्नाइजेशन (1973)
- ट्राइबल हेरिटेज ऑफ इंडिया एडिटेड (1977)
- सोशल साइंसेज इन चेंजिंग सोसाइटी (1974)
- मॉडर्नाइजेशन एंड डेवलपमेंट (1988)
- ऑन क्राइसिस ऐंड कमिटमेंट इन सोशल वैल्यूज़
- इंडियन सोसाइटी (1990)
- मानव और संस्कृति ह्यूमन एंड कल्चर (1992)
- भारतीय ग्राम (इंडियन विलेज)
- विकास का समाजशास्त्र (सोशियोलॉजी ऑफ डेवलपमेंट)
- समय और संस्कृति टाइम एंड कल्चर
- संक्रमण की पीड़ा
- परंपरा और इतिहास बोध
- संस्कृति और शिक्षा कल्चर एजुकेशन
- समाज और भविष्य सोसाइटी एंड फ्यूचर

8.3 एस. सी. दुबे का पद्धातिशास्त्र एवं परिप्रेक्ष्य

एस. सी. दुबे ने समाजशास्त्र को बहुआयामी दृष्टिकोण प्रदान किया। एस. सी. दुबे एक बहुत सर्जन लेखक थे, आपने विकास की कई संस्थाओं में कार्य किया। यही कारण है कि आपका ग्रामीण विकास आधुनिकीकरण और प्रगति के साथ धरातल का लगाव था। भारतीय समाजशास्त्र पर आपने अपने स्पष्ट

विचार रखे हैं। श्री दुबे ऐसे विशिष्ट विचारक और समाजशास्त्री है जिन्होंने समाजशास्त्र और मानवशास्त्र को विकास आधुनिकीकरण एवं प्रगति के साथ जोड़कर देखा है। इस प्रकार दुबे ने समाजविज्ञानियों को एक नवीन दिशा, दृष्टिकोण एवं पद्धति प्रदान की है, जो भारतीय समाज से प्रत्यक्ष संबंध रखते हैं। यद्यपि उन्होंने निदानात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया है तथापि एस. सी. दुबे का पद्धतिशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मुख्य रूप से संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक रहा है। ग्रामीण अध्ययन में श्री दुबे ने अंतर-अनुशासन पद्धति का भी प्रयोग किया है।

8.4 ग्रामीण अध्ययन

60 से 70 के दशक में भारतीय समाज के अध्ययन में ग्रामीण समुदाय के अध्ययनों का चलन तेजी से बढ़ा। प्रसिद्ध समाजशास्त्री रॉबर्ट रेडफील्ड द्वारा किया गया मेक्सिको के एक गाँव `टोपोजालान` का अध्ययन, अन्य ग्रामीण अध्ययनों के लिए एक मॉडल एवं आधार बना। एस. सी. दुबे के ग्रामीण अध्ययन के ऊपर भी रेडफील्ड का प्रभाव रहा है। इंडियन विलेज जिसका संपादन दुबे के द्वारा 1955 में किया गया था, वह ग्रामीण अध्ययन की श्रृंखला में दुबे की पहली और शास्त्रीय पुस्तक रही है।

8.4.1 इंडियन विलेज का शमीरपेट

एस. सी. दुबे ने दक्षिण पठार के आंध्र प्रदेश में स्थित हैदराबाद और सिकंदराबाद से लगभग 25 मील की दूरी पर बसे हुए एक गांव जिसे वे शमीरपेट का नाम देते हैं, का सरल अध्ययन करके गहन निष्कर्षों का प्रतिपादन किया। श्री दुबे ने अंतर-अनुशासन पद्धति द्वारा इस गांव का अध्ययन करते हुए तथ्यात्मक सामग्रियों का संकलन किया है। आपने इस गांव का अध्ययन करते हुए इसकी सामाजिक आर्थिक स्थिति, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, आदि से संबंधित अध्ययन संपादित किया है। श्री दुबे का यह अध्ययन रॉबर्ट रेडफील्ड के मैक्सिको के टोपोजालान अध्ययन से प्रेरित है।

शमीरपेट ग्राम के अध्ययन की विशेषताएँ:

एस. सी. दुबे के द्वारा `इंडियन विलेज` पुस्तक के अंतर्गत वर्णित शमीरपेट के ग्राम संबंधी अध्ययन की विशेषताओं को निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत स्पष्ट किया जा सकता है-

- श्री दुबे ने इस अध्ययन के दौरान पाया कि शमीरपेट गांव में हिंदू और सुन्नी मुसलमान दोनों ही संप्रदाय हैं।

- समीर पेट गांव की सामाजिक व्यवस्था में वंशानुगत मुखिया का प्रभाव अधिक होता है, इनका का निर्णय अधिकांश जनता स्वीकार करती है। ये झगड़े का निवारण, सार्वजनिक रूप से त्योहारों, धार्मिक अनुष्ठानों आदि कार्यक्रम के लिए चन्दे और दान का एकत्रीकरण, सार्वजनिक कार्यों के लिए विचार-विमर्श आदि जैसे कार्यों का संपादन महत्वपूर्ण रूप से करते हैं।
- एस. सी. दुबे का कहना है कि प्रशासनिक और सामाजिक नियंत्रण के कार्यों में पुलिस की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।
- हिंदुओं में जाति व्यवस्था पाई जाती है, आंशिक तौर पर जाति का यह प्रभाव मुसलमानों में भी पाया गया।
- हिंदुओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य समेत इस गांव में अनेक एस. सी. जातियां हैं, जो शूद्रवर्ण में आती हैं और अस्पृश्य नहीं हैं।
- द्विज जातियों में ब्राह्मण अर्थात् पुरोहित कोमटी अर्थात् व्यापारी, व्यावसायिक जातियों के कृषक (कपूरेड्डी, कापू, मुत्तरासी), कुम्हार (कुभ्भरी), चरवाहे (गोल्ला), कारीगर एवं मजदूर (साले, गाओंडा) बड्डार- पत्थर तोड़ने वाले, एकरकला-चटाई बनाने वाले आदि थे। यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि शमीरपेट गांव में हिंदू जातियों ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि माना गया।
- शमीरपेट मुख्य रूप से एक हिंदू गांव है। किंतु यहाँ कर्म के सिद्धांत का प्रचलन है, लोग परंपरागत नियमों के अनुसार कार्य करना पसंद करते हैं, साथ में भूत और प्रेतों में भी विश्वास करते हैं।
- हिंदुओं में युगादि, रामनवमी, टोली, एकादशी, नागुल पंचमी, श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, पितृपक्ष, तिल संक्रांति, शिवरात्रि व होली आदि पर्व मनाने का प्रचलन है, तो वहीं मुसलमानों में मुहर्रम, मिलाद, शबेबरात, रमज़ान ईद उल जुहा आदि त्योहार मनाये जाते हैं।
- एस. सी. दुबे ने बताया है कि भारतीय गांव में मुख्य तीन प्रकार के उत्सव और पर्व होते हैं- प्रथम, पारिवारिक संस्कार अथवा उत्सव, द्वितीय, धार्मिक उत्सव और पर्व, तृतीय, जाति संबंधी उत्सव और पर्व।

- शमीरपेट ग्राम के अंदर सदस्यों की व्यवस्था कुछ इस प्रकार होती है कि गांव के सभी व्यक्ति गांव के सदस्य होते हैं इसके साथ ही वह अपनी जाति विशेष एवं धर्म सम्प्रदाय विशेष के भी विशिष्ट सदस्य होते हैं।
- एस. सी. दुबे ने अपने अध्ययन के दौरान पाया की कोई भी गांव पूर्ण रूप से स्वायत नहीं होते क्योंकि शादियों की व्यवस्था गांव के बाहर होती है। इसके साथ ही व्यवसाय भी अन्य गांवों एवं कस्बों, शहरों आदि के साथ होता है। गांव के युवा उच्च शिक्षा भी गांव के बाहर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार कई मामलों में शमीरपेट गांव अन्य स्थानों से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार एस. सी. दुबे ने आंध्र प्रदेश के शमीरपेट गांव का गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन संरचनात्मक प्रकार्यात्मक विधि के द्वारा किया और बताया कि गांव में परिवर्तन का प्रभाव भी है। लोगों के दृष्टिकोण समय के साथ बदले हैं। यद्यपि शमीरपेट गांव में वह सभी विशेषताएं पाई जाती हैं, जो किसी भी दक्षिण भारत के गांवों में मिलती है, किंतु इसकी विशेषताओं को प्रस्तुत करने का श्री दुबे जी का तरीका समाजशास्त्रीय और अंतर्वैषयायिक है। इस प्रकार यह अध्ययन ग्रामीण समाजशास्त्रीय जगत को दिशा निर्देशित करने वाला एक महत्वपूर्ण अध्ययन है।

8.4.2 भारत के बदलते गाँव

एस. सी. दुबे के सामुदायिक विकास कार्यक्रम (सीडीपी) को भारत सरकार के द्वारा स्वीकार किया गया। यह एक महत्वपूर्ण कारण था कि ग्रामीण अध्ययन में श्री दुबे की रुचि लगातार अधिक होने लगी। भारतीय ग्राम पुस्तक लिखने के बाद एस. सी. दुबे ने पश्चिमी उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले में कारनेल (भारत) परियोजना के अंतर्गत सामुदायिक विकास कार्यक्रम के मूल्यांकन का विकल्प चुना। कारनेल विश्वविद्यालय में मानवविज्ञान के अतिथि प्रोफेसर रहते हुए श्री दुबे ने एक अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था `भारत के बदलते गांव: सामुदायिक विकास में मानवीय कारक` 1958 में इस प्रसिद्ध पुस्तक का प्रकाशन रूटलेज एवं केगन पोल पब्लिकेशन के द्वारा किया गया।

नियोजित परिवर्तन एवं विकास के क्षेत्र में यह पुस्तक एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्ययन सिद्ध हुई और इसी के साथ ही श्री दुबे इस क्षेत्र के प्रमाणिक विशेषज्ञ माने जाने लगे। इस अध्ययन के दौरान श्री दुबे ने भारतीय ग्रामों पर विस्तृत रूप से नियोजित विकास परियोजनाओं (सीडीपी) के प्रभावों का गहन अध्ययन किया। श्री दुबे ने इस पुस्तक में सामुदायिक विकास में मानवीय तत्वों का क्या महत्त्व हो सकता है? इस पर

भी खुलकर प्रकाश डाला है। श्री दुबे ने यह बताया कि ग्रामीण विकास को केवल तकनीकी या आर्थिक सुधारों तक संबंधित नहीं माना जा सकता, बल्कि इसमें जनसामान्य की अभिव्यक्तियों, मूल्यों और सामाजिक संरचना आदि जैसे कारकों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। श्री दुबे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परंपरागत सामाजिक संरचना जैसे जाति व्यवस्था और धार्मिक विश्वास आदि कई बार नई योजनाओं के विकास में बाधक का कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति तब होती है जब परंपराओं, मूल्यों एवं आधुनिकीकरण की प्रणाली के बीच तनाव उत्पन्न होता है। श्री दुबे की यह महत्वपूर्ण पुस्तक स्पष्ट रूप से यह समझने में सहायक है कि भारत के परम्परागत गांवों के सामाजिक आर्थिक परिवर्तन में किस प्रकार सरकारी नीतियां और अन्य बाह्य कारक प्रभाव डाल रहे हैं। इस पुस्तक के अध्ययन का केंद्रीय बिंदु सामाजिक परिवर्तन रहा है।

8.5 परम्परा एवं आधुनिकीकरण

एस. सी. दुबे ने परंपरा, विकास और आधुनिकीकरण के अंतर्संबंधों का उत्तम विश्लेषण अपने विभिन्न लेखों और व्याख्यानों के माध्यम से किया है। एस. सी. दुबे की प्रसिद्ध पुस्तक परंपरा इतिहास बोध और संस्कृति, परंपरा और परिवर्तन, विकास का समाजशास्त्र एवं समय तथा संस्कृति आदि में देखने को मिलता है। एस. सी. दुबे के परंपरा और आधुनिकीकरण संबंधी विचारों निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है-

8.5.1 परम्परा का अर्थ एवं परिभाषा

एस. सी. दुबे के परंपरा संबंधी विचार परंपरा से ही सम्बंधित उनकी प्रसिद्ध पुस्तक `परंपरा: इतिहास बोध एवं संस्कृति` में देखने को मिलता है। भारतीय परम्पराओं की प्रकृति अत्यंत जटिल और प्राचीन है। अनेक भारतीय समाजशास्त्रियों जैसे डी. पी. मुखर्जी, राधा कमल मुखर्जी एवं योगेंद्र सिंह ने परंपरा का विश्लेषण अपने अपने ढंग से किया है।

एस. सी. दुबे के अनुसार, "ऐसे विचार, प्रथाएँ, व्यवहार, जीवन मूल्य एवं संस्थागत स्वरुप जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किए जाते हैं, वह सभी परंपरा के अंतर्गत आते हैं।"

8.5.2 परम्परा की विशेषताएं

एस. सी. दुबे के किए गए परम्पराओं के विश्लेषण के आधार पर इसकी प्रमुख विशिष्टताओं को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है-

- श्री दुबे संस्कृति और परंपरा को भिन्न-भिन्न अवधारणाओं के तौर पर देखा है। दुबे का मानना है कि संस्कृति एक व्यापक अवधारणा है और परंपराएं संस्कृति का एक अंग मात्र हैं। संस्कृति की संरचना सापेक्षिक रूप से जटिल है।
- श्री दुबे यह मानते हैं कि परंपराओं का निर्माण समाज के द्वारा बदलते सामाजिक संदर्भ और आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाता है। इस प्रकार परंपरा के मूल चरित्र को छोड़कर आंशिक तौर पर इनमें परिवर्तन होता है।
- एक विशिष्ट विशेषता परंपराओं की श्री दुबे के अनुसार यह भी है कि यद्यपि परम्पराएं सार्वभौमिक होती हैं, किंतु स्थान विशेष की परंपराओं में और अन्य स्थानों की परंपराओं में कुछ अंतर अवश्य पाए जाता है। परंपराएं स्थान, गोत्र, वंश एवं सामाजिक परिवेश के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। इसके साथ ही श्री दुबे यह बलपूर्वक कहते हैं कि वैचारिक परम्पराएं जितनी अधिक विस्तृत होंगी, वैचारिक संस्कृति की समृद्धि उतनी ही अधिक होगी।
- परम्पराओं को सामाजिक ऊर्जा का मुख्य स्रोत माना जा सकता है। परम्पराओं के द्वारा सामाजिक नियंत्रण, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं सामाजिक समरसता में वृद्धि होती है।
- परम्पराओं में समाज विशेष के से संबंधित घुले-मिले तत्व होते हैं। परंपराओं का स्वरूप अलिखित होता है, इसलिए परम्पराओं में पीढ़ी दर पीढ़ी समय, आवश्यकता एवं परिस्थिति के अनुसार कुछ परिवर्तन अवश्य आ जाता है।

8.5.3 परम्पराओं के प्रकार

एस. सी. दुबे का कहना है भारत जैसे वैविध्यपूर्ण, विशाल और समृद्ध परंपरा वाले देश में परम्पराओं को केवल लघु और वृहद परंपरा के तौर पर नहीं समझा जा सकता। आपने भारतीय परम्पराओं को समझने के लिए इसे मुख्य रूप से छह भागों में वर्गीकृत किया है।

1. **शास्त्रीय परंपरा-** एस. सी. दुबे ने उन परंपराओं को शास्त्रीय परंपरा के रूप में समझा है जो प्राचीन भारतीय धार्मिक एवं शास्त्रीय ग्रंथों जैसे- वेदों, उपनिषदों और पुराणों आदि पर आधारित होती हैं। यह परम्पराएं स्पष्ट एवं लिखित स्वरूप की तरह होती है।
2. **राष्ट्रीय परंपरा-** एस. सी. दुबे ने उन परंपराओं को राष्ट्रीय परंपरा के रूप में सम्मिलित किया है, जिनकी व्यापकता और विस्तार राष्ट्र के स्तर पर होती है और यह परम्पराएं राष्ट्रीय पहचान बनाती हैं।
3. **क्षेत्रीय परंपरा-** श्री दुबे का मानना है कि क्षेत्रीय परंपराओं में वे सभी परंपराएं सम्मिलित की जा सकती हैं, जिनका विस्तार एक विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र या प्रदेश तक सीमित होता है।
4. **स्थानीय परंपरा-** एस. सी. दुबे ने उन परंपराओं को स्थानीय परंपराओं की श्रेणी में रखा है, जिन का विस्तार किसी विशेष स्थानीय क्षेत्र अथवा ग्राम तक होता है।
5. **पश्चिमी देशों की परंपरा-** एस. सी. दुबे ने ऐसी परंपराओं को पश्चिमी परंपराओं के रूप में माना है, जो आधुनिक भारत में पश्चिमी देशों के प्रभाव से अपना ली गई है। अर्थात् परंपराओं पर पश्चिमीकरण का प्रभाव होता है।
6. **उपसंस्कृति की परम्पराएँ-** उप-सांस्कृतिक परंपरा को स्पष्ट करते हुए एस. सी. दुबे ने कहा है कि ये परंपराएं समाज विशेष के समूहों, जातियों एवं समुदायों की विशिष्ट परंपराएं होती है।

8.5.4 आधुनिकता का अर्थ और परिभाषा-

एस. सी. दुबे ने अपने आधुनिकीकरण संबंधी विचार अपनी पुस्तक `कंटेम्परारी इंडिया एंड इट्स मॉडर्नाइजेशन` (1974) में प्रस्तुत किए हैं। आधुनिकीकरण को परिभाषित करते हुए श्री दुबे ने कहा है कि "आधुनिकीकरण मूलतः एक प्रक्रिया एक गति या बहाव की तरह है, जो परंपरागत व्यवस्था से एक विशेष प्रकार की अपेक्षित प्रौद्योगिकी और इससे जुड़ी हुई सामाजिक संरचना, मूल्य-अनुस्थापन प्रेरणाओं और मानदंडों की ओर चलता है।" श्री दुबे का यह स्पष्ट मानना था कि भारत में परिवर्तन की दिशा आधुनिकीकरण की तरफ हो रही है। आपने परिवर्तन और विकास को जोड़कर देखा है। दुबे का ऐसा मानना रहा है आधुनिकीकरण का विस्तार गांवों तक होना चाहिए क्योंकि भारत में परिवर्तन का उत्तम विकल्प आधुनिकीकरण है।

8.5.5 आधुनिकीकरण की विशेषताएं

श्री दुबे ने आधुनिकीकरण को प्रत्यक्ष तौर पर औद्योगीकरण, यंत्रीकरण और पूँजीवाद से संबंधित माना है। दुबे का आधुनिकीकरण को समझने का दृष्टिकोण मुख्यतः नैदानिक और निर्देशानात्मक रहा है। श्री दुबे ऐसा मानते हैं कि भारतीय समाज को प्रगतिशील बनाने के लिए जो भी रास्ते जाते हैं उनका सबसे उत्तम मार्ग आधुनिकीकरण ही है। एस. सी. दुबे आधुनिकीकरण की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं बताई हैं इसे हम निम्नलिखित रूप से देख सकते हैं-

परानुभूति

मानसिक गतिशीलता

सहभागिता

स्पष्ट लक्ष्य

हितों का समन्वय

जोखिम उठाने के प्रति नवीन दृष्टिकोण

परिवर्तन की इच्छा और अपेक्षा

संभावना में विश्वास

सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक अनुशासन

उच्च स्तरीय प्रौद्योगिकी

जटिल संस्थाएँ

शिक्षा का विशाल स्तर

8.6 विकास की अवधारणा-

एस. सी. दुबे के विकास की अवधारणा संबंधी विचार `मॉडर्नाइजेशन एंड डेवलपमेंट` (1988) में देखने को मिलते हैं। इस पुस्तक में विकास संबंधी विभिन्न आयामों की व्याख्या की गयी है। वस्तुतः यह पुस्तक उच्च श्रेणी का अनुभव पर आधारित एक सामाजिक ग्रंथ है। इस पुस्तक में आपने सामुदायिक

विकास, आधुनिकीकरण एवं विकास के अंतर संबंधों का विश्लेषण किया है और यह बलपूर्वक कहा कि देश में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ ही औद्योगिक एवं कॉर्पोरेट क्षेत्र में विकास संभव है।

एस. सी. दुबे के अनुसार विकास की प्रमुख अवस्थाएं-

एस. सी. दुबे ने विकास की चार प्रमुख अवस्थाएं बताई हैं जो निम्नलिखित हैं-

प्रथम अवस्था- विकास की प्रथम अवस्था में अधिकांश तौर पर विकास का तात्पर्य आर्थिक विकास से लगाया जाता है। जब राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है, तो ऐसा मान लिया जाता है कि देश में विकास का प्रारंभ हो गया है। प्रथम अवस्था में ही देश के लोगो में उपभोक्ता संस्कृति का जन्म होने लग जाता है और लोग सापेक्षिक रूप से वस्तुओं का अधिक उपभोग करने लगते हैं। बाजार में अतिरिक्त उत्पादन आने लगता है।

द्वितीय व्यवस्था- विकास की द्वितीय अवस्था में एस. सी. दुबे यह स्थापित करते हैं कि सामाजिक संरचना और आर्थिक विकास का घनिष्ठ संबंध होता है। सामाजिक सांस्कृतिक रूप से उपस्थित मानवीय कारकों की अनदेखी करके विकास के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। आर्थिक विकास में मानवीय कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। संस्थागत कारकों द्वारा आर्थिक विकास और तकनीकी परिवर्तन में तब बाधा उत्पन्न हो सकती है, जब दोनों के मूल्य पारस्परिक रूप से टकराते हैं। विकास को क्रियान्वित करते समय सरकारी और गैर सरकारी सामाजिक एजेंसियों को यह ध्यान रखना चाहिए कि सामाजिक संरचना में अंतर्निहित मानवीय कारकों अर्थात् सामाजिक संस्थाओं की परंपराओं, नियमों, मूल्यों एवं प्रतिमानों की उपेक्षा करके विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। इन सभी से विकास के मानकों का विरोधाभास होने पर सामुदायिक विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति अपूर्ण रहेगी।

तृतीय अवस्था- विकास की तृतीय अवस्था को विकास के प्रतिक्रियात्मक और उत्तरदायी चरण के रूप में समझा जा सकता है। जो विकास एवं आधुनिकीकरण के प्रतिक्रिया स्वरुप उत्पन्न हुआ। श्री दुबे का यह मानना है कि विकास की प्रक्रिया को कई बार प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ता है यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब मानवीय कारकों का विकास के मानकों के साथ विरोधाभास होता है। कई बार ऐसा होता है कि जब आम जनसामान्य विकास की किसी योजना के विरोध में खड़ा हो जाता है। ऐसा हर बार नहीं होता किंतु विकास की जिस प्रक्रिया के साथ ऐसी घटना घटित होती है तो उस समय वहाँ के लोग विकास के

प्रतिमानों के प्रति सकारात्मक अभिव्यक्ति नहीं देते हैं, अर्थात् वह विकास की प्रक्रिया विशेष के साथ सहज नहीं है, विकास के प्रतिमानों के साथ उनका रवैया सहयोगी नहीं है, ऐसी स्थिति में विकास के मानकों और उसकी योजनाओं में या तो संशोधन होता है या फिर उसने वापस लेना पड़ता है।

चतुर्थ अवस्था- विकास के चतुर्थ अवस्था को एक चिंतनशील चरण के रूप में समझा जा सकता है। यह अवस्था मानव के सामाजिक अस्तित्व को सुनिश्चित करने के लिए राष्ट्रीय सामाजिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन पर बल देती है। इस अवस्था में पहुँच कर जन-सामान्य और सामाजिक व्यवस्थात्मक तंत्र दोनों ही विकास के विभिन्न पक्षों पर चिंतन मनन करते हैं और वह यह सुनिश्चित करने का प्रयास करते हैं, कि विकास की विभिन्न प्रक्रियाओं के द्वारा जन-सामान्य का अहित न हो जाए।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अपनी विकास की अवधारणा को एस. सी. दुबे व्यापक स्तर पर स्पष्ट करते है। विकास की अवधारणा के बारे में बात करते हुए एस. सी. दुबे यह बलपूर्वक कहते हैं कि निश्चित रूप से राष्ट्र को विकास का लाभ होता है। विकास के विभिन्न पहलुओं पर कार्य करने के साथ ही विकास सम्बंधी एजेंसियों और सरकारी तंत्र को यह सुनिश्चित करना होगा कि विकास के मायने कुछ विशिष्ट वर्ग या व्यक्तियों तक सीमित न रहें, बल्कि आम आदमी और हाशिए पर खड़े व्यक्ति भी विकास को प्राप्त करें और उससे सकारात्मक रूप से प्रभावित हों। इस प्रकार श्री दुबे ने विकास के साथ ही साथ सामाजिक न्याय को स्थापित करने पर बल दिया है। सामाजिक न्याय की स्थापना के साथ ही सही मायनों में विकास को प्राप्त किया जा सकता है। विकास का लाभ जब सीमांत व्यक्ति और वर्ग तक पहुंचेगा, तभी कोई राष्ट्र विकास को सही मायने में प्राप्त कर सकता है। श्री दुबे ने एजेंसियों को विकास कार्यक्रम के क्रियान्वयन के लिए अधिक सावधान एवं सतर्क रहने को कहा है।

8.7 प्रभु व्यक्ति की अवधारणा

एस.सी. दुबे, जो भारतीय समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के प्रमुख विद्वान थे, ने भारतीय ग्राम अध्ययन में "प्रभु व्यक्ति" की अवधारणा को विशेष महत्व दिया। उनके अनुसार, ग्राम समाज केवल आर्थिक या राजनीतिक इकाई नहीं है, बल्कि यह एक सांस्कृतिक और धार्मिक संरचना भी है। इस संरचना में प्रभु व्यक्ति वह केंद्रीय सत्ता है जो ग्रामवासियों के जीवन को दिशा देती है। यह व्यक्ति ईश्वर का प्रतीक होते हुए ग्राम की धार्मिक आस्थाओं, नैतिक मूल्यों और सामाजिक संबंधों को एक सूत्र में बाँधता है। दुबे ने दिखाया कि भारतीय गाँव आत्मनिर्भर नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक नेटवर्क का हिस्सा है, और इस नेटवर्क में प्रभु

व्यक्ति की अवधारणा ग्राम समाज की एकता और स्थायित्व का आधार बनती है। इस प्रकार, प्रभु व्यक्ति केवल धार्मिक सत्ता ही नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक निरंतरता का भी प्रतीक है।

एस.सी. दुबे, जो भारतीय समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के प्रमुख विद्वान थे, ने भारतीय ग्राम अध्ययन में "प्रभु व्यक्ति" की अवधारणा को खास महत्व दिया। उनके अनुसार, ग्राम समाज केवल एक आर्थिक या राजनीतिक इकाई नहीं है, बल्कि यह एक सांस्कृतिक और धार्मिक ढांचा भी है। इस ढांचे में प्रभु व्यक्ति वह केंद्रीय सत्ता है जो ग्रामवासियों के जीवन को दिशा देती है। यह व्यक्ति ईश्वर का प्रतीक होते हुए ग्राम की धार्मिक आस्थाओं, नैतिक मूल्यों और सामाजिक संबंधों को एक सूत्र में बांधता है। दुबे ने दिखाया कि भारतीय गाँव आत्मनिर्भर नहीं हैं, बल्कि यह एक व्यापक सामाजिक नेटवर्क का हिस्सा हैं। इस नेटवर्क में प्रभु व्यक्ति की अवधारणा ग्राम समाज की एकता और स्थायित्व का आधार बनती है। इस प्रकार, प्रभु व्यक्ति केवल धार्मिक सत्ता नहीं है, बल्कि यह सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक निरंतरता का भी प्रतीक है।

8.8 सारांश

भारतीय समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के प्रमुख विद्वान एस. सी. दुबे ने भारतीय समाज, विशेषकर ग्राम जीवन और उसकी संरचना को समझने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने यह दिखाया कि भारतीय गाँव केवल आर्थिक या राजनीतिक इकाई नहीं है, बल्कि यह धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक संबंधों का जटिल ताना-बाना है। दुबे ने ग्राम अध्ययन में परिवार, वंश, जाति, ग्राम समुदाय और धार्मिक इकाइयों को समाज की मूलभूत संरचनाएँ बताया। उनके अनुसार, इन इकाइयों के माध्यम से ही सामाजिक जीवन की निरंतरता और स्थायित्व सुनिश्चित होता है।

दुबे ने "प्रभु व्यक्ति" की अवधारणा को भी विशेष महत्व दिया। यह व्यक्ति ग्राम समाज में ईश्वर का प्रतीक होते हुए धार्मिक आस्थाओं, नैतिक मूल्यों और सामाजिक संबंधों को एक सूत्र में बाँधता है। उन्होंने

यह स्पष्ट किया कि भारतीय गाँव आत्मनिर्भर नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक नेटवर्क का हिस्सा है। इस नेटवर्क में प्रभु व्यक्ति और अन्य इकाइयाँ मिलकर समाज की एकता और सहयोग को बनाए रखती हैं।

उनके अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय समाज को समझने के लिए उसकी छोटी-छोटी इकाइयों का विश्लेषण आवश्यक है। दुबे का कार्य भारतीय समाजशास्त्र को एक ठोस आधार प्रदान करता है और ग्राम जीवन की विविधता, परंपरा तथा सामाजिक संरचना को गहराई से समझने का मार्ग दिखाता है।

8.9 शब्दावली

1. **परम्परा-** परम्परा का अर्थ है बराबर चली आ रही रीति, प्रथा, परिपाटी या क्रम, जो पीढ़ी दर पीढ़ी या लंबे समय से समाज में प्रचलित हो।
2. **ग्राम समाज-** वह सामाजिक इकाई है जो ग्रामीण क्षेत्र में निवास करने वाले लोगों के बीच बने हुए सामाजिक संबंधों, सांस्कृतिक परंपराओं, धार्मिक आस्थाओं, आर्थिक गतिविधियों और राजनीतिक संरचनाओं का समुच्चय है।
3. **सांस्कृतिक संरचना-** परंपराएँ, मूल्य और रीति-रिवाज जो समाज को दिशा देते हैं।
4. **सामाजिक संबंध-** गाँव में लोगों के बीच आपसी जुड़ाव और सहयोग।
5. **प्रभु व्यक्ति-** वह व्यक्ति जो ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता है और गाँव की धार्मिक आस्थाओं व सामाजिक संबंधों को जोड़ता है।

8.10 निबंधात्मक अभ्यास प्रश्न

1. शमीरपेट ग्राम के अध्ययन की विशेषताएँ का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।

2. एस.सी. दुबे के विकास की अवधारणा को विस्तार पूवर्क समझाइये।

3. एस.सी.दुबे के विकास की प्रमुख अवस्थाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।

8.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. नागला, बी. के, (2008) इंडियन सोशियोलॉजिकल थॉट, रावत पब्लिकेशन जयपुर।
2. सिंह, योगेंद्र (1978) एसेज ऑन मॉडर्नाइजेशन इन इंडिया, मनोहर बुक सर्विस, न्यू दिल्ली।
3. आहूजा, राम (2000) भारतीय समाज, रावत पब्लिकेशन, दिल्ली।
4. रिसर्च इन सोशियोलॉजी एंड सोशल एंथ्रोपोलॉजी, वॉल्यूम सेकंड आईसीएसएसआर, न्यू दिल्ली।
5. आहूजा, राम (2011), भारतीय सामाजिक व्यवस्था, रावट पब्लिकेशन जयपुर।
6. दोषी, एस. एल. एवं जैन, पी. सी. (2013), भारतीय समाज: संरचना एवं परिवर्तन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर।

8.12 सहायक उपयोगी पाठ्य-सामग्री

1. दुबे, श्यामाचरण (2001), भारतीय समाज अनुवादक बंदना मिश्रा नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया पब्लिकेशन।

2. दोषी, एस. एल. (2010) भारतीय समाजशास्त्रीय विचारक, रावत पब्लिकेशन, जयपुर।

इकाई- 09

डी. पी. मुकर्जी (D. P. Mukherjee)

इकाई की रूपरेखा

9.1 प्रस्तावना

9.2 जीवन परिचय

9.3 प्रमुख कृतियाँ/ रचनाएँ

9.4 डी. पी. मुकर्जी का योगदान

9.5 डी. पी. मुकर्जी का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

9.6 आधुनिकता और परम्परा की अवधारणा

9.7 परम्परा और आधुनिकता का संबंध

9.8 आधुनिक भारतीय संस्कृति

9.9 भारतीय इतिहास

9.10 सारांश

9.12 पारिभाषिक शब्दावली

9.13 बोध प्रश्न के उत्तर

9.14 संदर्भ ग्रंथ

9.15 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.16 निबन्धात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

भारतीय समाजशास्त्र के विकास में जिन विद्वानों ने मौलिक, स्वदेशी और भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, उनमें डी. पी. मुकर्जी का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने समाजशास्त्र को केवल पश्चिमी सिद्धांतों की नकल न मानकर भारतीय समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक वास्तविकताओं से जोड़कर देखने का प्रयास किया। डी. पी. मुकर्जी एक ओर पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित थे, तो दूसरी ओर भारतीय परंपराओं के अध्ययन पर भी विशेष बल देते थे। समाजशास्त्र के अतिरिक्त इन्होंने अर्थशास्त्र, साहित्य, संगीत एवं कला जैसे विविध क्षेत्रों में भी महत्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

समाजशास्त्र की अनेक अवधारणाओं पर डी. पी. मुकर्जी ने अपनी कृति 'समाजशास्त्र की मूल अवधारणाएँ' में गहन विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन, इतिहास, मानव समाज, प्रकृति, समूह, सामाजिक संबंध, अंतःक्रिया तथा सामाजिक संस्था जैसी प्रमुख अवधारणाओं पर अपने मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। डी. पी. मुकर्जी ने इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हुए इतिहास, व्यक्तित्व तथा सामाजिक शक्तियों के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण किया। उनका मानना था कि किसी भी सामाजिक समस्या का अध्ययन एक स्थिर समस्या के रूप में नहीं, बल्कि एक निरंतर चलने वाली सामाजिक प्रक्रिया के रूप में किया जाना चाहिए।

9.2 जीवन परिचय

प्रो. डी. पी. मुकर्जी का पूरा नाम धुर्जति प्रसाद मुकर्जी था। उनका जन्म सन् 1894 में बंगाल के एक सुसंस्कृत मध्यमवर्गीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे एक बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी थे। समाजशास्त्र के साथ-साथ उन्हें इतिहास, दर्शन, साहित्य और संगीत में भी गहरी रुचि थी। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय शिक्षण और लेखन कार्य में बिताया। उन्होंने अपना प्रथम लेख 'उद्योग में प्रजातंत्र' उस समय लिखा, जब न तो प्रजातंत्र का पूर्ण विकास हुआ था और न ही औद्योगीकरण का। उस काल में पूँजीवाद अपने प्रारंभिक चरण में था। डी. पी. मुकर्जी ने अपनी गहन अंतर्दृष्टि के माध्यम से पूँजीवाद को एक ऐसी व्यवस्था के रूप में देखा, जिसमें समूह आधारित अर्थव्यवस्था का विघटन हो रहा था। उनके अनुसार पूँजीवाद के विकास ने सामूहिकता के स्थान पर व्यक्तिवाद को बढ़ावा दिया, जिससे सामाजिक संबंधों की संरचना प्रभावित हुई। एक शिक्षक के रूप में वे छात्रों को समाज को केवल सैद्धांतिक रूप में नहीं, बल्कि व्यवहारिक और ऐतिहासिक दृष्टि से समझने के लिए प्रेरित करते थे। डी. पी. मुकर्जी ने कोलकाता विश्वविद्यालय से सन् 1918 में इतिहास विषय में एम.ए. तथा सन् 1920 में अर्थशास्त्र विषय में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी समय भारत में समाजशास्त्र विषय की औपचारिक शुरुआत सन् 1919 में मुंबई विश्वविद्यालय से हुई। इसके बाद सन् 1920 में लखनऊ विश्वविद्यालय में भी समाजशास्त्र का अध्यापन आरंभ किया गया।

प्रो. डी. पी. मुकर्जी ने बंगवासी कॉलेज से अपने अध्यापक जीवन की शुरुआत की। सन् 1924 में वे लखनऊ आए। लखनऊ आने की सलाह उन्हें राधाकमल मुकर्जी ने दी थी, जो उस समय लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर थे। यद्यपि दोनों विद्वानों के बीच कुछ बौद्धिक विषयों पर मतभेद थे, फिर भी वे इस बात पर सहमत थे कि अर्थशास्त्र का

अध्यापन समाजशास्त्र की तुलना में अधिक व्यवस्थित ढंग से किया जा सकता है। इन्होंने लगभग 30 वर्षों तक लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। इस दौरान उन्होंने समाजशास्त्र के क्षेत्र में गहन अध्ययन किया और विद्यार्थियों को सरल एवं प्रभावी ढंग से पढ़ाया। प्रोफेसर ए. के. शरण और डी. एन. मदान उनके प्रमुख शिष्यों में माने जाते हैं।

सन् 1947 में प्रो. डी. पी. मुकर्जी को उत्तर प्रदेश श्रम जाति समिति का सदस्य बनाया गया। सन् 1951 में वे लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रोफेसर बने। इसके बाद सन् 1953 में उन्हें अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया गया, जहाँ उन्होंने लगभग पाँच वर्ष तक कार्य किया। प्रो. डी. पी. मुकर्जी ने द हेग स्थित "इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल स्टडीज" में समाजशास्त्र के विजिटिंग प्रोफेसर भी रहे। यूनेस्को के आमंत्रण पर उन्होंने पेरिस में व्याख्यान दिया। प्रो. डी. पी. मुकर्जी "इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी" के संस्थापक सदस्यों में से एक थे। वे इसकी प्रबंध समिति और संपादक मंडल के सदस्य भी रहे। उन्होंने "अंतरराष्ट्रीय समाजशास्त्रीय संगठन" में भारत का प्रतिनिधित्व किया।

डी. पी. मुकर्जी अत्यधिक धूम्रपान करते थे, जिसके कारण उन्हें गले का कैंसर हो गया। स्वास्थ्य खराब होने के बावजूद उन्होंने कुछ समय तक अलीगढ़ में अध्यापन कार्य जारी रखा। अंततः 5 दिसंबर 1962 को उनका निधन हो गया। वे समाज को किसी स्थिर व्यवस्था के रूप में नहीं, बल्कि एक निरंतर चलने वाली सामाजिक प्रक्रिया मानते थे। एक सफल अध्यापक और मौलिक समाजशास्त्री के रूप में डी. पी. मुकर्जी का योगदान भारतीय समाजशास्त्र में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

9.3 प्रमुख कृतियाँ/ रचनाएँ

डी. पी.मुकर्जी ने इतिहास, अर्थशास्त्र, कला, संगीत, साहित्य तथा समाजशास्त्र जैसे विभिन्न विषयों से संबंधित अपने महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए। उनके विचार बहुआयामी थे और उन्होंने समाज को एक समग्र दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी कृतियों व्यक्तित्व और सामाजिक जीवन (1924), आधुनिक भारतीय संस्कृति (1942) तथा विविधताएं (1958) में भारतीय समाज, संस्कृति और आधुनिकता का विश्लेषण किया। इसके अतिरिक्त प्रमुख कृतिया निम्नवत् है-

- समाजशास्त्र की मूल अवधारणाएं (1932)
- टैगोर : एक अध्ययन (1943)
- भारतीय इतिहास पर (1945)
- भारतीय संगीत का परिचय (1945)
- भारतीय युवकों की समस्याएं (1946)

- विचार और प्रति विचार (1946)
- भारतीय संस्कृति का समाजशास्त्र (1942)
- भारतीय परम्परा एवं सामाजिक परिवर्तन

9.4 डी. पी. मुकर्जी का योगदान

डी. पी.मुकर्जी भारतीय समाजशास्त्र के प्रमुख विचारकों में स्थान प्राप्त है। डी. पी.मुकर्जी को भारतीय समाजशास्त्र के मार्क्सवादी विचारधारा के अग्रणी चिंतक कहा जाता है। उनके विचारों पर अनेक बौद्धिक धाराओं का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। सर्वप्रथम, मार्क्सवादी विचारधारा का उनके चिंतन पर गहरा प्रभाव था। ब उन्होंने व्यक्तित्व को समाजशास्त्रीय अवधारणा का मुख्य तत्व माना है। इनके अनुसार व्यक्तित्व, समाजीकरण की प्रक्रिया का परिणाम होता है तथा सामाजिक और वैयक्तिक तत्वों के समन्वय से विकसित होता है। इसके साथ ही, भारतीय परंपरा जिसमें संस्कृति, धर्म, दर्शन और सामाजिक मूल्य शामिल हैं—का भी उनके विचारों पर व्यापक प्रभाव दिखाई देता है। वे भारतीय समाज को उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के बिना समझना संभव नहीं मानते थे।

9.5 डी. पी. मुकर्जी का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

मुकर्जी का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण भारतविद्या, मार्क्सवाद और विवेकी मानवतावाद इन तीन आधारों पर टिका हुआ है। वे मानते थे कि भारतीय समाज को समझने के लिए केवल आर्थिक या वर्गीय विश्लेषण पर्याप्त नहीं है। भारत का इतिहास मुख्यतः संस्कृति, दर्शन और धर्म से निर्मित है। इसलिए उन्होंने भारतीय समाज के अध्ययन में वेदान्त, उपनिषद, भक्ति परम्परा आदि को विशेष महत्व दिया। डी. पी. मुखर्जी के समाजशास्त्रीय विचारों पर **मार्क्सवादी विचारधारा** का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। वे मार्क्सवाद को समाज को समझने का एक महत्वपूर्ण और वैज्ञानिक दृष्टिकोण मानते थे। उनके अनुसार मार्क्सवाद समाज में होने वाले परिवर्तनों को समझने में सहायता करता है, क्योंकि यह उत्पादन संबंधों, आर्थिक संरचना और वर्ग संबंधों पर विशेष बल देता है। मार्क्सवाद के अनुसार समाज का आधार उसकी आर्थिक संरचना होती है और उसी के अनुसार सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संस्थाएँ विकसित होती हैं। डी. पी. मुखर्जी इस बात से सहमत थे कि समाज में परिवर्तन की प्रक्रिया में आर्थिक कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उन्होंने वर्ग संघर्ष, उत्पादन संबंध और ऐतिहासिक भौतिकवाद और जैसी अवधारणाओं को समाजशास्त्रीय अध्ययन में उपयोगी माना। उन्होंने विश्लेषण के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रयोग किया।

डी. पी. मुखर्जी का स्पष्ट मत था कि भारतीय समाज को केवल आर्थिक आधार पर नहीं समझा जा सकता। भारतीय समाज की संरचना यूरोपीय समाज से भिन्न है। यहाँ सामाजिक जीवन पर परंपरा, संस्कृति, धर्म, जाति व्यवस्था, ग्राम व्यवस्था और सामाजिक मूल्यों का गहरा प्रभाव पाया जाता है। इसलिए उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धांतों को ज्यों-का-त्यों भारतीय समाज पर लागू करने का विरोध किया। डी. पी. मुखर्जी का मानना था कि भारतीय समाज में परिवर्तन की

प्रक्रिया परंपरा और आधुनिकता के बीच संघर्ष और समन्वय के माध्यम से आगे बढ़ती है। यहाँ नया समाज पुराने समाज को पूरी तरह नष्ट नहीं करता, बल्कि उसके साथ तालमेल बनाकर आगे बढ़ता है। इसी कारण भारतीय समाज में परिवर्तन की गति धीमी और क्रमिक होती है। उनके अनुसार, समाज को समझने का सही तरीका **संश्लिष्टवाद** है। वे मानते थे कि भारत अपनी परम्पराओं को छोड़ नहीं सकता, लेकिन साथ ही आधुनिकता, पश्चिमीकरण और औद्योगीकरण से मुँह मोड़ना भी संभव नहीं है। इसलिए हर स्थिति में समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। मुकर्जी के विचार में इस समन्वय का आधार वेदान्त के बुनियादी मूल्य हैं। इन्हीं मूल्यों के साथ वे मार्क्सवाद और पश्चिमी उदारवाद को जोड़ते हैं। उनका कहना है कि भारत का इतिहास वर्ग-संघर्ष का नहीं, बल्कि संस्कृति और मूल्यों के समन्वय का इतिहास है। इसी कारण वे मार्क्स से असहमति जताते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि समाज केवल आर्थिक शक्तियों से नहीं, बल्कि विचारों, मूल्यों, संस्कृति और व्यक्तित्व से भी प्रभावित होता है। उनके अनुसार विचार और समाज एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इसलिए "विचार बदलने से समाज बदल जाएगा" जैसी अवधारणा को उन्होंने पूर्णतः स्वीकार नहीं किया, बल्कि उसे सामाजिक परिस्थितियों से जुड़ा हुआ माना। डी. पी.मुकर्जी ने पश्चिमी समाजशास्त्र के सिद्धांतों का भी अध्ययन किया, किंतु उन्होंने उन्हें आलोचनात्मक दृष्टि से ग्रहण किया। वे पश्चिमी सिद्धांतों को पूरी तरह अस्वीकार नहीं करते थे, परंतु उनकी अंधी नकल के सख्त विरोधी थे। उनका स्पष्ट मत था कि भारतीय समाज की समस्याओं का समाधान पश्चिमी सिद्धांतों के यांत्रिक प्रयोग से नहीं, बल्कि भारतीय सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संदर्भ में ही खोजा जाना चाहिए। इस प्रकार, डी. पी.मुकर्जी का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण न तो पूरी तरह पश्चिमी था और न ही केवल परंपरागत, बल्कि वह दोनों का संतुलित और आलोचनात्मक समन्वय प्रस्तुत करता है।

अत: डी. पी. मुखर्जी के अनुसार मार्क्सवाद समाज को समझने का एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है, परंतु भारतीय समाज को केवल आर्थिक आधार पर नहीं समझा जा सकता। उन्होंने मार्क्सवाद को भारतीय परंपरा, संस्कृति और सामाजिक संरचना के संदर्भ में समझने पर बल दिया। इस प्रकार डी. पी. मुकर्जी का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण **मार्क्सवादी** और **संश्लिष्टवादी** है।

9.6 आधुनिकता और परम्परा की अवधारणा

आधुनिकता- आधुनिकरण एक बहुपक्षीय प्रक्रिया है जो बहुत जटिल है। एक समाज के सदस्यों के संपूर्ण जीवन को आधुनिकरण स्पर्श करती है। गत वर्षो में कई देशों ने स्वतंत्रता प्राप्त की है इन देशों में अपनी अर्थव्यवस्थाओं को विकसित करने के लिए आधुनिकरण के प्रति रुचि दिखाई है। 20वीं शताब्दी के इतिहासकारों तथा समाजशास्त्रियों का आधुनिकीकरण के प्रति दृष्टिकोण 19वीं शताब्दी वाले विद्वानों से भिन्न है। डी. पी. मुखर्जी आधुनिकता को भारत में आधुनिकरण की प्रक्रिया के साथ देखते हैं। वे लिखा है कि ''मेरा मानना है कि भारत का इतिहास उसके वर्ग संघर्ष का इतिहास नहीं है क्योंकि उसे उसने इसके लिए कोई कार्य नहीं किया भारत के इतिहास में दर्शनशास्त्र एवं धर्म सदैव भाभी रहे उसने संस्कृत विश्लेषण में बहुत समय व्यतीत किया इस प्रकार हम कह सकते हैं डीपी मुखर्जी के लिए भारतीय इतिहास भारतीय संस्कृति है''1 डी. पी. मुकर्जी के अनुसार आधुनिकीकरण, केवल औद्योगीकरण, शहरीकरण या

तकनीकी विकास नहीं है। यह एक बहुपक्षीय और ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इसका संबंध मूलतः मूल्यों के परिवर्तन और संतुलन से है। वे कहते हैं कि भारत में आधुनिकीकरण की सबसे बड़ी समस्या यह रही है कि हमने इसे पश्चिम का अनुकरण समझ लिया। अनुकरण से केवल बाहरी परिवर्तन आता है, आंतरिक चेतना का विकास नहीं होता। डी. पी. मुखर्जी मानना था कि आधुनिकता को पश्चिमी नजरिए से नहीं, बल्कि भारतीय परिप्रेक्ष्य में समझना चाहिए, जहाँ पारंपरिक और आधुनिक मूल्य साथ-साथ चलते हैं।

डी. पी. मुकर्जी के अनुसार यह मान लेना कि आधुनिकता का परम्परा से अनिवार्य रूप से संघर्ष होता है, एक सरलीकृत और अपूर्ण दृष्टिकोण है। भारतीय समाज के संदर्भ में आधुनिकता और परम्परा के बीच टकराव की अपेक्षा समन्वय अधिक यथार्थपरक स्थिति है। मुकर्जी स्पष्ट करते हैं कि परम्परा कोई स्थिर या जड़ संरचना नहीं होती, बल्कि वह समय के साथ स्वयं को रूपांतरित करने की क्षमता रखती है। इसी कारण आधुनिकता के आगमन पर परम्परा पूर्णतः नष्ट नहीं होती, बल्कि वह आधुनिक तत्वों को आत्मसात करते हुए नए रूप में विकसित होती है। उनके अनुसार आधुनिकता और परम्परा को विरोधी ध्रुवों के रूप में देखने के स्थान पर उन्हें पूरक प्रक्रियाएँ समझना चाहिए। आधुनिकता समाज को गतिशीलता और नवीनता प्रदान करती है, जबकि परम्परा समाज को स्थिरता, निरंतरता और सांस्कृतिक पहचान देती है। जब दोनों के बीच संतुलन स्थापित होता है, तभी समाज में स्वस्थ और टिकाऊ परिवर्तन संभव हो पाता है। इस दृष्टि से, डी. पी. मुकर्जी यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि "परम्परा आधुनिकता की विरोधी नहीं है; बल्कि वही आधार है जिसके ऊपर आधुनिकता का भारतीय स्वरूप निर्मित होता है।"[2]

परम्परा- परम्पराएँ समाज की सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखती हैं और सामाजिक जीवन को स्थिरता प्रदान करती हैं। डी. पी. मुकर्जी के लिए परम्परा कोई स्थिर या जड़ संरचना नहीं है। उनके अनुसार परम्परा गतिशील होती है। समय के साथ उसमें आंतरिक और बाह्य दोनों प्रकार के परिवर्तन आते हैं। परम्परा समाज को दिशा देती है और व्यक्ति को जीवन का अर्थ प्रदान करती है। वे इस धारणा को अस्वीकार करते हैं कि परम्पराएँ विकास में बाधा हैं। उनका स्पष्ट मत है कि परम्परा के बिना समाज नैतिक और सांस्कृतिक शून्यता का शिकार हो सकता है। डी. पी. मुकर्जी कहते हैं "अतः हमारा प्रथम कर्तव्य उन सामाजिक परम्पराओं का अध्ययन करना है जिनमें हमने जन्म लिया है और जिनमें हमने जीवन व्यतीत किया है। इस कर्तव्य में आन्तरिक और बाह्य दबावों से परम्पराओं में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन भी सम्मिलित है। बाद के दबाव अधिकतर आर्थिक हैं। जब तक आर्थिक शक्ति असामान्य रूप से मजबूत नहीं होती और केवल इसी के द्वारा उत्पादन प्रणालियों में परिवर्तन होता है-तब तक परम्पराएं सामंजस्य करके जीवित रहती हैं।"[1]

डी. पी. मुकर्जी के अनुसार परम्परा का प्रभाव व्यक्ति और समाज पर समान रूप से नहीं पड़ता। एक ओर परम्परा व्यक्तिवाद को सीमित करती है, तो दूसरी ओर वही परम्परा समाज को आगे बढ़ाने वाली शक्ति भी बनती है। उनका मानना है कि परम्परा व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना और आत्मनिर्णय की क्षमता को कमजोर कर सकती है, क्योंकि वह व्यक्ति को सामाजिक नियमों, रीति-रिवाजों और सामूहिक अपेक्षाओं के अधीन कर देती है। इस स्थिति में व्यक्ति स्वयं निर्णय लेने के बजाय परम्परा द्वारा निर्धारित आचरण का पालन करता है। किन्तु मुकर्जी परम्परा को केवल नकारात्मक शक्ति

नहीं मानते। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि परम्परा समाज को सांस्कृतिक निरंतरता, सामाजिक स्थायित्व और सामूहिक एकता प्रदान करती है। परम्परा के माध्यम से ही समाज अपने मूल्यों, अनुभवों और ऐतिहासिक चेतना को पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ाता है। इस दृष्टि से परम्परा समाज की प्रगति में बाधक नहीं, बल्कि समाज को संगठित और गतिशील बनाए रखने वाला तत्व है। डी. पी. मुकर्जी परम्परा का विश्लेषण मार्क्सवाद के संदर्भ में करते हुए यह स्वीकार करते हैं कि परम्परा कई बार प्रभुत्वशाली वर्गों के हितों की रक्षा का साधन बन जाती है। मार्क्सवादी दृष्टि से परम्परा का उपयोग शोषणकारी सामाजिक संरचनाओं को बनाए रखने के लिए किया जा सकता है। किंतु मुकर्जी शुद्ध मार्क्सवादी व्याख्या से आगे बढ़ते हुए यह जोड़ते हैं कि भारतीय समाज में परम्परा केवल वर्ग-शोषण का उपकरण नहीं रही है, बल्कि उसने सामाजिक समन्वय और सामूहिक जीवन को भी बनाए रखा है।

9.7 परम्परा और आधुनिकता का संबंध

डी. पी. मुकर्जी के विचारों में परंपरा और आधुनिकता का संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण है। परंपरा समाज को निरंतरता प्रदान करती है। आधुनिकता समाज में परिवर्तन और नवाचार लाती है भारत में आधुनिकता पश्चिम से आई, जिससे परंपरा और आधुनिकता के बीच संघर्ष उत्पन्न हुआ। परंतु मुकर्जी का मानना था कि दोनों के बीच समन्वय संभव है और यही भारतीय समाज की विशेषता है। डी. पी. मुकर्जी के अनुसार परम्परा और आधुनिकता के संबंध को केवल विरोध या संघर्ष के रूप में देखना भारतीय समाज की वास्तविकता को अधूरा समझना है। भारतीय संदर्भ में दोनों का संबंध मूलतः समन्वयात्मक है, न कि पूर्णतः संघर्षात्मक। मुकर्जी का मानना है कि परम्परा कोई जड़ व्यवस्था नहीं होती, बल्कि समय के साथ स्वयं को परिवर्तित करने की क्षमता रखती है। परम्परा समाज को सांस्कृतिक निरंतरता और स्थायित्व प्रदान करती है, जबकि आधुनिकता परिवर्तन और प्रगति की दिशा देती है। इस प्रकार दोनों परस्पर पूरक हैं। वे स्वीकार करते हैं कि आधुनिकता के साथ कुछ तनाव उत्पन्न होता है, पर यह तनाव अनिवार्य रूप से संघर्ष में नहीं बदलता। भारतीय समाज में आधुनिकता का विकास परम्परा के निषेध से नहीं, बल्कि उसके आंतरिक रूपांतरण से हुआ है। यदि आधुनिकता परम्परा से पूरी तरह कट जाए तो समाज जड़हीन हो जाता है, और यदि परम्परा परिवर्तन को अस्वीकार करे तो समाज स्थिर रह जाता है। इसलिए संतुलित सामाजिक विकास के लिए दोनों के बीच समन्वय आवश्यक है।

डी. पी. मुकर्जी के अनुसार परम्परा और आधुनिकता का संबंध विरोध का नहीं, बल्कि सह-अस्तित्व और समन्वय का है। परम्परा आधुनिकता की विरोधी नहीं है; बल्कि वही आधार है जिसके ऊपर आधुनिकता का भारतीय स्वरूप निर्मित होता है।

9.8 आधुनिक भारतीय संस्कृति

भारतीय संदर्भ में आधुनिकीकरण में मुकर्जी के अनुसार भारत का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास नहीं है। यहाँ दर्शन और धर्म की प्रधानता रही है। भारत ने लंबे समय तक सांस्कृतिक संश्लेषण में समय व्यतीत किया है। इसलिए भारतीय समाज में आधुनिकीकरण भारतीय सांस्कृतिक विरासत से कटकर नहीं, बल्कि उसी के भीतर से विकसित होना चाहिए।

वे मानते हैं कि यदि कोई समाज अपनी ही परम्परा को आत्मसात नहीं कर पाता, तो वह विदेशी आधुनिक मूल्यों को भी सार्थक रूप से नहीं अपना सकता। डी. पी. मुकर्जी के अनुसार आधुनिक भारतीय संस्कृति न तो पूर्णतः परम्परागत है और न ही पूरी तरह पाश्चात्य। इसकी सबसे प्रमुख विशेषता इसका संश्लिष्ट (Synthesis-based) और गतिशील स्वरूप है। आधुनिक भारतीय संस्कृति का विकास परम्परा के विनाश से नहीं, बल्कि उसके रूपांतरण और पुनर्व्याख्या से हुआ है। डी. पी. मुकर्जी मानते हैं कि भारतीय संस्कृति मूलतः निरंतरता और परिवर्तन—दोनों का समन्वय है। डी. पी. मुकर्जी के अनुसार मूल्य समाज की आत्मा होते हैं। मूल्य सामाजिक व्यवहार को दिशा देते हैं और संस्कृति मूल्यों की अभिव्यक्ति है। भारतीय समाज में परंपरागत रूप से कर्तव्य, त्याग, सामूहिकता और आध्यात्मिकता जैसे मूल्य प्रमुख रहे हैं। आधुनिकता के प्रभाव से व्यक्तिवाद और भौतिकता का प्रभाव बढ़ा है। एक ओर भारतीय समाज अपनी सांस्कृतिक विरासत, नैतिक मूल्यों, धार्मिक सहिष्णुता और सामूहिकता को बनाए रखता है, वहीं दूसरी ओर वह आधुनिक शिक्षा, विज्ञान, तर्कशीलता और लोकतांत्रिक विचारों को भी आत्मसात करता है। इसी संतुलन के कारण आधुनिक भारतीय संस्कृति विशिष्ट स्वरूप ग्रहण करती है। आधुनिक भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण प्रकृति इसका बहुलतावादी (Pluralistic) चरित्र है। भारत में विभिन्न धर्मों, भाषाओं, जातियों और परम्पराओं का सह-अस्तित्व आधुनिक संस्कृति को विविधतापूर्ण बनाता है। यह विविधता भारतीय आधुनिकता को पश्चिमी आधुनिकता से अलग करती है, जो अपेक्षाकृत एकरूप मानी जाती है। मुकर्जी के अनुसार आधुनिक भारतीय संस्कृति में मूल्यों की केंद्रीय भूमिका है। वे मानते हैं कि यदि आधुनिकीकरण मूल्यविहीन हो जाए, तो वह समाज में विघटन और असंतुलन उत्पन्न करता है। इसलिए आधुनिक भारतीय संस्कृति में नैतिकता, सामाजिक उत्तरदायित्व और मानवीय संवेदनशीलता को बनाए रखना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, आधुनिक भारतीय संस्कृति अनुकरणात्मक नहीं, बल्कि स्वदेशी है। यह पश्चिम से प्रभावित अवश्य है, परंतु उसकी नकल मात्र नहीं करती। भारतीय समाज अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुसार आधुनिक तत्वों को अपनाता है। यही कारण है कि भारतीय आधुनिकता को एक स्वतंत्र सांस्कृतिक प्रक्रिया माना जाता है।

डी. पी. मुकर्जी के अनुसार आधुनिक भारतीय संस्कृति की प्रकृति गतिशील, संश्लिष्ट, मूल्यपरक और बहुलतावादी है। यह परम्परा और आधुनिकता के समन्वय से विकसित होती है और भारतीय समाज को अपनी सांस्कृतिक पहचान के साथ आगे बढ़ने की दिशा प्रदान करती है।

9.9 भारतीय इतिहास

डी. पी. मुकर्जी के अनुसार भारतीय इतिहास को केवल राजनीतिक घटनाओं, राजवंशों या युद्धों के क्रम के रूप में नहीं समझा जा सकता। उनका स्पष्ट मत है कि भारतीय इतिहास मूलतः भारतीय संस्कृति का इतिहास है। समाज की निरंतरता, परम्पराएँ, मूल्य और सांस्कृतिक अनुभव ही भारतीय इतिहास की वास्तविक धुरी हैं।

डी. पी. मुकर्जी मार्क्सवादी इतिहास-दृष्टि से आंशिक सहमति रखते हुए भी उससे भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वे इस धारणा से असहमत हैं कि भारतीय इतिहास को केवल वर्ग-संघर्ष के आधार पर समझा जा सकता है। उनके अनुसार भारत में पश्चिमी समाजों की तरह स्पष्ट वर्ग-संघर्ष की परंपरा नहीं रही है। इसके स्थान पर यहाँ सांस्कृतिक समन्वय और सह-अस्तित्व की प्रक्रिया अधिक प्रमुख रही है। मुकर्जी के अनुसार भारतीय समाज ने विभिन्न विदेशी प्रभावों—जैसे आर्य, मुस्लिम और पाश्चात्य—को पूरी तरह अस्वीकार नहीं किया, बल्कि उन्हें अपनी संस्कृति में आत्मसात (Assimilate) किया। यही कारण है कि भारतीय इतिहास में निरंतरता बनी रही और संस्कृति टूटने के बजाय विकसित होती गई। वे यह भी मानते हैं कि भारतीय इतिहास में परिवर्तन अचानक और क्रांतिकारी नहीं, बल्कि धीरे-धीरे और क्रमिक रूप में हुआ है। इस क्रमिक परिवर्तन ने समाज को स्थायित्व प्रदान किया और उसे जड़हीन होने से बचाया।

डी. पी. मुकर्जी के अनुसार भारतीय इतिहास संघर्ष का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक समन्वय और निरंतरता का इतिहास है। भारतीय समाज को समझने के लिए इतिहास को सांस्कृतिक और सामाजिक संदर्भ में देखना आवश्यक है।

बोध प्रश्न 1

डी. पी. मुकर्जी के अनुसार भारतीय इतिहास मूलतः किसका इतिहास है?

A. राजनीतिक घटनाओं का

B. वर्ग-संघर्ष का

C. आर्थिक संस्थाओं का

D. संस्कृति का

9.10 सारांश

डी. पी. मुकर्जी के अनुसार भारतीय समाज, संस्कृति और इतिहास को पश्चिमी ढाँचों में बाँधकर नहीं समझा जा सकता। उनका दृष्टिकोण संश्लिष्ट है, जिसमें परम्परा और आधुनिकता के बीच संघर्ष के बजाय समन्वय पर बल दिया गया है। वे मानते हैं कि परम्परा जड़ नहीं होती, बल्कि समय के साथ रूपांतरित होती है और आधुनिकता उसी के आधार पर विकसित होती है। भारतीय इतिहास को वे संस्कृति की निरंतरता और आत्मसात की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं, न कि केवल वर्ग-संघर्ष के इतिहास के रूप में। आधुनिक भारतीय संस्कृति उनकी दृष्टि में मूल्यपरक, बहुलतावादी और स्वदेशी है। इस प्रकार मुकर्जी का चिंतन भारतीय समाज की वास्तविकताओं पर आधारित एक संतुलित और प्रासंगिक समाजशास्त्रीय दृष्टि प्रस्तुत करता है।

9.12 पारिभाषिक शब्दावली

1 संस्कृति-समाज के मूल्य, विश्वास, परम्पराएँ और जीवन-पद्धति का समग्र रूप।

2 ऐतिहासिक निरंतरता-समय के साथ संस्कृति और समाज का लगातार बने रहना।

3 समन्वय-विभिन्न तत्वों का संतुलित और सामंजस्यपूर्ण मेल।

4 आत्मसात-बाहरी प्रभावों को अपने सांस्कृतिक ढाँचे में शामिल करना।

5 वर्ग-संघर्ष-वर्गों के बीच आर्थिक हितों के कारण उत्पन्न संघर्ष (मार्क्सवादी अवधारणा)।

6 क्रमिक परिवर्तन-धीरे-धीरे होने वाला सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन।

7 सांस्कृतिक इतिहास-इतिहास को सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के माध्यम से समझना।

9.13 बोध प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न-1 उत्तर: D

9.14 संदर्भ ग्रंथ

1. D.b.b Mukherjee, diversity peoples publishing house, New Delhi, p.123

2 **2 Modern Indian Culture Bombay: Hind Kitabs Ltd., 1942.**

3. दोषी, एस. एल. (2006). भारतीय समाजशास्त्रीय चिंतन. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।

4. रावत, हरिकृष्ण (2011). भारतीय सामाजिक विचारक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।

5. गुप्ता, एम. एल. (2008). आधुनिक भारत में सामाजिक चिंतन. नई दिल्ली: कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी।

6. गुप्ता, डी. डी. (2012). भारतीय समाज और सामाजिक विचार. नई दिल्ली: कनिष्क पब्लिशर्स।

9.15 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

पुस्तक

भारतीय सामाजिक विचारक, एस. एल. दोषी।

समाजशास्त्रीय चिन्तक एवं सिद्धान्तकार, हरिकृष्ण रावत।

सामाजिक विचारक, एम. एल. गुप्ता एवं डॉ. डी. डी. गुप्ता।

9.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1. डी. पी. मुकर्जी के अनुसार भारतीय इतिहास की मुख्य विशेषता क्या है?

2. मुकर्जी के अनुसार आधुनिकता परम्परा की विरोधी क्यों नहीं है?

इकाई- 10 **ए. आर. देसाई**

A. R. Desai

इकाई की रूपरेखा

10.0 प्रस्तावना

10.1 उद्देश्य

10.2 जीवन परिचय

10.3 प्रमुख रचनाएँ

10.4 ए. आर. देसाई : प्रैक्सिस और वैचारिक प्रभाव

10.5 ए. आर. देसाई के अध्ययन के क्षेत्र

10.6 भारतीय राष्ट्रवाद पर ए. आर. देसाई के विचार

10.7 विकास के मार्ग पर ए. आर. देसाई के विचार

10.8 किसान आंदोलन और ग्रामीण समाज

10.9 लोकतांत्रिक अधिकार

10.10 राज्य की अवधारणा: राज्य एक वर्ग रूप में

10.11 सारांश

10.12 पारिभाषिक शब्दावली

10.13 बोध प्रश्न के उत्तर

10.14 संदर्भ ग्रंथ

10.15 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

10.16 निबन्धात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

भारतीय समाजशास्त्र में प्रो. ए. आर. देसाई का स्थान एक ऐसे विद्वान के रूप में स्थापित है जिन्होंने समाज के अध्ययन को आदर्शवादी या सांस्कृतिक दृष्टिकोण तक सीमित न रखकर उसे आर्थिक, ऐतिहासिक और संरचनात्मक आधार प्रदान किया। वे भारतीय समाजशास्त्र की मार्क्सवादी परंपरा के सबसे प्रमुख प्रतिनिधि माने जाते हैं।

ए. आर. देसाई ने भारतीय समाज, राष्ट्रवाद, राज्य, सामाजिक परिवर्तन, किसान आंदोलनों और वर्ग-संघर्ष का विश्लेषण ऐतिहासिक–भौतिकवादी दृष्टिकोण से किया। उनका समाजशास्त्र समाज में व्याप्त शोषण, असमानता, वर्ग-विभाजन और सत्ता-संबंध जैसी वास्तविक समस्याओं को स्पष्ट रूप से उजागर करता है। ए. आर. देसाई का अध्ययन इसलिए आवश्यक है क्योंकि वे समाज को आलोचनात्मक और वैज्ञानिक दृष्टि से समझने की दिशा प्रदान करते हैं।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपके द्वारा संभव होगा-

ए. आर. देसाई के जीवन परिचय को जान पायेगें।

देसाई की प्रमुख रचनाओं की पहचान पायेगें।

देसाई के वैचारिक प्रभावों को समझना पायेगें।

ए. आर. देसाई के अध्ययन के प्रमुख क्षेत्रों राज्य, राष्ट्रवाद, तथा ग्रामीण समाज का विश्लेषण कर पायेगें।

10.2 जीवन परिचय

प्रो. ए. आर. देसाई का जन्म गुजरात में 16 अप्रैल, 1915 में हुआ। उनके पिता रमणलाल वसन्त देसाई एक प्रतिष्ठित साहित्यकार थे। जिनकी रचनाओं ने युवाओं को ग्रामीण विकास के कार्यों के लिए प्रेरित किया। रमणलाल देसाई वडोदरा में अधिकारी पद पर कार्यरत रहे। जिसके कारण ए. आर. देसाई को विभिन्न क्षेत्रों में सामान्य जनता के जीवन और सामाजिक परिस्थितियों को निकट से देखने का अवसर मिला। उन्होंने फेबियन समाजवाद के विचार अपने पिता से ग्रहण किए और वडोदरा में विद्यार्थी आंदोलनों में सक्रिय भागीदारी निभाई। इसी सक्रियता के कारण उन्हें एक समय कॉलेज से निष्कासित भी कर दिया गया। इसके बावजूद उन्होंने अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान में स्नातक शिक्षा प्राप्त की तथा बाद में विधि (कानून) की डिग्री भी हासिल की। वर्ष 1946 में उन्होंने जी. एस. घुर्ये के निर्देशन में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। जहाँ घुर्ये ब्राह्मणवादी समाजशास्त्रीय परंपरा के प्रतिनिधि माने जाते हैं, वहीं देसाई ने मार्क्सवादी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाया। वे केवल एक विचारक ही नहीं, बल्कि एक सक्रिय सामाजिक कार्यकर्ता भी थे।

ए. आर. देसाई ने वर्ष 1946 में सिद्धार्थ कॉलेज में व्याख्याता के रूप में अपने शैक्षणिक जीवन की शुरुआत की। इससे पूर्व उनके विद्यार्थी जीवन में ही उनका झुकाव मार्क्सवादी विचारधारा की ओर हो चुका था। स्नातक स्तर की पढ़ाई के दौरान वे एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी थे और इसी समय उन्होंने उग्र सुधारवादी राजनीति की ओर रुख किया। 1930 का

दशक भारतीय राजनीति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण था, जब कांग्रेस के मुख्यधारा राष्ट्रवाद के समानांतर वामपंथी विकल्प भी उभर रहा था। गुजरात में किसान आंदोलनों की शुरुआत हो रही थी और बड़ौदा वामपंथी राजनीति का एक प्रमुख केंद्र बन गया था। देसाई अपनी राजनीतिक गतिविधियों के कारण बड़ौदा के कॉलेज से निलंबित भी हुए, जिसके बाद वे सूरत और फिर बंबई चले गए।

उस समय बंबई मजदूर आंदोलनों और ट्रेड यूनियन गतिविधियों का प्रमुख केंद्र था। कपड़ा मिलों, खदानों और उद्योगों में मजदूर अमानवीय शोषण, लंबे कार्य-घंटों और कम मजदूरी के विरुद्ध संघर्ष कर रहे थे। यह महामंदी और औद्योगिक मंदी का दौर भी था, जिसने श्रमिक आंदोलनों को और अधिक उग्र बना दिया। इसी काल में मजदूर संघों, किसान सभाओं, छात्र संगठनों, महिला संगठनों और सांस्कृतिक मंचों का तीव्र विस्तार हुआ। देसाई वर्ष 1934 में कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हुए, किंतु लगभग पाँच वर्षों के बाद पार्टी के नौकरशाही ढाँचे तथा 1939 में ब्रिटिश युद्ध प्रयासों के समर्थन संबंधी पार्टी के बदले हुए रुख से असहमति के कारण उन्होंने पार्टी छोड़ दी।

वर्ष 1951 में देसाई की नियुक्ति बंबई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में हुई। यहाँ वे 1969 में प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष बने और 1976 में सेवामुक्त हुए। उनके शैक्षणिक योगदान के कारण उन्हें 1973–75 तथा 1981–85 के दौरान भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (ICSSR) में क्रमशः 'सीनियर फेलो' और 'नेशनल फेलो' नियुक्त किया गया। इसके अतिरिक्त वे 1980 से 1981 में इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी तथा 1988 से 1990 में गुजरात सोशियोलॉजिकल सोसाइटी के अध्यक्ष भी रहे। अपने पूरे अध्यापन काल में देसाई ने अनुसंधान, लेखन और सामाजिक सक्रियता को निरंतर जारी रखा। वे अंग्रेज़ी और गुजराती दोनों भाषाओं में व्यापक रूप से प्रकाशित हुए और भारतीय समाजशास्त्र में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

ए. आर. देसाई अपने निधन तक एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी बने रहे। उन्होंने शहरीकरण, गंदी बस्तियों, शहरी परिवार तथा परिवार नियोजन जैसी समस्याओं पर गंभीर अध्ययन किया। उनके विचार, लेखन और सक्रियतावाद आज भी भारतीय समाज, राजनीति और वर्ग-संघर्ष को समझने में अत्यंत प्रासंगिक माने जाते हैं।

ए. आर. देसाई का निधन वर्ष 1994 में हुआ, किंतु उनके विचार और लेखन भारतीय समाजशास्त्र में आज भी अत्यंत महत्वपूर्ण माने जाते हैं। देसाई ने अपने जीवन में शिक्षण, शोध और लेखन तीनों क्षेत्रों में सक्रिय भूमिका निभाई। उनके विचार आज भी भारतीय समाजशास्त्र में प्रासंगिक बने हुए हैं।

बोध प्रश्न 1.

ए. आर. देसाई किस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से जुड़े हुए थे?

A. कार्यात्मकवादी B. संरचनात्मक-कार्यात्मक

C. मार्क्सवादी D. प्रतीकात्मक अंतःक्रियावादी

10.3 प्रमुख रचनाएँ

देसाई का लेखन क्षेत्र बहुत व्यापक था। उन्होंने भारतीय राज्य, कृषक समुदाय, लोकतांत्रिक अधिकार, नगरीकरण, किसान आंदोलन और ग्रामीण जनता जैसे विषयों पर लिखा एवं अध्ययन किया। उनकी पुस्तक ''सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म'' सबसे अधिक प्रसिद्ध है, जो उनका पीएच.डी. शोध-कार्य भी थी। इनका कार्य कई क्षेत्रों में साझा अध्ययन हैं। इसके अतिरिक्त उनकी कुछ पुस्तकें मौलिक रचनाएँ थीं, जबकि कुछ संपादित कृतियों के रूप में प्रकाशित हुईं। देसाई की सभी रचनाओं में भारतीय समाज का आलोचनात्मक और तथ्यात्मक विश्लेषण मिलता है। इनकी प्रमुचा कृतियाँ निम्नलिखित हैं -

- सोश्यल बैकग्राउण्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म (1946)
- रिसेन्ट ट्रेन्ड्स इन इंडियन नेशनलिज्म (1960)
- इंडियन फ्यूडल स्टेट्स एण्ड नेशनल लिबरेशन स्ट्रगल्स
- गाँधीज़ टूथ एण्ड नॉन-वायलेन्स एक्स-रेड
- रूरल सोश्योलॉजी इन इंडिया (1969)
- स्ल्म्स एण्ड अरबेनाइजेशन (1970) (डि. पिल्लई के साथ)
- एसेज़ ऑन अरबेनाइजेशन ऑफ अन्डरडेवलपमेंट सोसाइटीज़
- ए पोजिटिव प्रोग्राम फॉर इंडियन रिवोल्यूशन
- ए प्रोफाइल ऑफ एन इंडियन स्लम (पिल्लई के साथ)
- स्टेट एण्ड सोसायटी इन इंडिया - एसेज़ इन डिसेन्ट
- पीजेन्ट् स्ट्रगल इन इंडिया
- इंडियाज़ पाथ ऑफ डेवलपमेंट (1984)
- अग्रेरियन स्ट्रगल्स इन इंडिया आफ्टर इंडिपेन्डेंस (1986)
- अरबन फेमिली एण्ड फेमिली प्लानिंग इन इंडिया

10.4 ए. आर. देसाई : प्रैक्सिस और वैचारिक प्रभाव

ए. आर. देसाई के योगदान को तीन मुख्यतः तीन आधारों पर समझा जा सकता है—

(1) सक्रिय कार्यकर्ता (Activist) के रूप में,

(2) मार्क्सवादी विचारधारा के रूप में, तथा

(3) समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के रूप में।

सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में देसाई केवल पुस्तकीय समाजशास्त्र तक सीमित नहीं रहे। वे सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों से सीधे जुड़े हुए थे। उन्होंने शोषण, असमानता और अन्याय के विरुद्ध सक्रिय रूप से आवाज़ उठाई। उनका मानना था कि समाजशास्त्र का उद्देश्य केवल समाज की व्याख्या करना नहीं, बल्कि समाज को बदलने की दिशा में कार्य करना भी है। इसी कारण उनके विचार व्यवहारिक सामाजिक संघर्षों से जुड़े हुए दिखाई देते हैं।देसाई ने भारतीय समाजशास्त्र में मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सुदृढ़ और स्थापित किया। समाज की संरचना को समझने के लिए उसकी आर्थिक व्यवस्था, उत्पादन संबंध और वर्ग-संघर्ष का अध्ययन अनिवार्य है। उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद की वर्गीय व्याख्या प्रस्तुत की और यह स्पष्ट किया कि राष्ट्रवादी आंदोलन विभिन्न वर्गों के आर्थिक हितों से जुड़ा हुआ था। अत: उन्होंने राज्य और सत्ता को तटस्थ संस्था न मानकर उसे शासक वर्ग के हितों से संबंधित बताया। साथ ही, उन्होंने सामाजिक परिवर्तन को सांस्कृतिक कारणों की बजाय आर्थिक संरचना और वर्ग-संघर्ष से जोड़कर समझाया। देसाई के मार्क्सवाद के अनुसार औपनिवेशिक भारत में राज्य ब्रिटिश पूँजीवादी हितों का साधन था और स्वतंत्रता के बाद भी भारतीय राज्य पूरी तरह से शोषण-मुक्त नहीं हो सका। यह दृष्टिकोण भारतीय राज्य की आलोचनात्मक समझ विकसित करता है।

10.5 ए. आर. देसाई के अध्ययन के क्षेत्र

प्रो. ए. आर. देसाई ने भारतीय समाज की समग्र संरचना और उसकी जटिलताओं का अध्ययन चार प्रमुख क्षेत्रों के अंतर्गत किया—

1 भारतीय राष्ट्रवाद

2 विकास का मार्ग

3 कृषक आंदोलन

4 लोकतांत्रिक अधिकार

10.6 भारतीय राष्ट्रवाद पर ए. आर. देसाई के विचार

देसाई राष्ट्रवाद को एक शक्तिशाली और ऐतिहासिक अवधारणा के रूप में देखते हैं और भारतीय समाज के विश्लेषण में मार्क्सवादी तथा ऐतिहासिक पद्धति को अपनाते हैं। इस संदर्भ में उनकी प्रमुख कृतियाँ सोश्यल बेकग्राउण्ड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म (1948) और रिसेन्ट ट्रेन्ड्स इन इंडियन नेशनलिज्म (1960) हैं। पहली कृति उनकी पी.एच.डी. शोध-प्रबंध पर आधारित थी। इस पुस्तक में उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद का विश्लेषण वर्गीय और आर्थिक दृष्टिकोण से किया।। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद केवल भावनात्मक या सांस्कृतिक आंदोलन नहीं था, बल्कि औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध

वर्ग-आधारित संघर्ष का परिणाम था। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि राष्ट्रवादी आंदोलन में उभरते हुए पूँजीपति वर्ग, मध्यम वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, किसान और श्रमिक वर्ग सभी की भूमिका थी। इस प्रकार, देसाई ने राष्ट्रवाद को आर्थिक हितों और वर्गीय शक्तियों से जोड़कर समझाया। देसाई का उद्देश्य यह समझना था कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद के दौरान भारतीय समाज में कौन-कौन से संरचनात्मक परिवर्तन हुए। देसाई के अनुसार ब्रिटिश शासन से पहले भूमि सामुदायिक स्वामित्व में थी, किंतु औपनिवेशिक भूमि सुधारों के माध्यम से भूमि को निजी संपत्ति में बदल दिया गया। भूमि पर कर लगाया गया और उसकी खरीद-फरोख्त संभव हुई। इसी प्रक्रिया से भारत में पूँजीवादी उत्पादन संबंधों का उदय हुआ, जिसे देसाई भारतीय समाज में पूँजीवाद की वास्तविक शुरुआत मानते हैं। वे राष्ट्रवाद को एक ऐतिहासिक-वैचारिक श्रेणी के रूप में देखते हैं, जिसका विकास 19वीं शताब्दी में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप हुआ। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान पूँजीपति वर्ग की भूमिका बढ़ती गई और स्वतंत्रता के बाद उसका प्रभुत्व और सशक्त हो गया। देसाई का निष्कर्ष है कि स्वतंत्र भारत की सामाजिक समस्याओं का समाधान पूँजीवाद के भीतर संभव नहीं है। देसाई का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने भारतीय समाज के अध्ययन को भारतविधा से अलग कर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखने की दिशा दी। इसी कारण उन्हें भारतीय समाजशास्त्र में मार्क्सवादी परंपरा का प्रमुख प्रवर्तक माना जाता है।

10.7 विकास के मार्ग पर ए. आर. देसाई के विचार

ए. आर. देसाई ने स्वतंत्रता के बाद भारत द्वारा अपनाए गए विकास मार्ग का आलोचनात्मक विश्लेषण किया। उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि भारत का विकास मार्ग समाजवादी या मार्क्सवादी है अथवा पूँजीवादी। इन प्रश्नों का उत्तर उन्होंने अपनी प्रमुख कृतियों "स्टेट एंड सोसाइटी इन इंडिया" तथा "इंडियाज़ पाथ ऑफ डेवलपमेंट: ए मार्क्सिस्ट एप्रोच" में दिया। इन दोनों पुस्तकों में भारत में विकसित होते पूँजीवाद पर सशक्त टिप्पणी मिलती है-

1. भारत में राज्य और पूँजीपति वर्ग के बीच घनिष्ठ संबंध है।
2. राज्य की कानूनी, प्रशासनिक तथा आर्थिक नीतियाँ पूँजीवादी विकास को बढ़ावा देती हैं।
3. सार्वजनिक क्षेत्र और कल्याणकारी योजनाएँ भी मूलतः पूँजीपति वर्ग के हितों की रक्षा करने वाली रणनीतियाँ हैं। परिणामस्वरूप, श्रमिकों, किसानों और शोषित वर्गों की संघर्ष क्षमता कमजोर होती गई।
4. भारतीय राज्य मूलतः पूँजीवादी है और इस ढाँचे के भीतर देश के पिछड़ेपन को दूर नही कर सकते हैं।

10.8 किसान आंदोलन और ग्रामीण समाज

देसाई ने भारतीय किसान आंदोलनों का भी गहन अध्ययन किया। उन्होंने किसान आंदोलनों को सामाजिक परिवर्तन की महत्वपूर्ण शक्ति माना और इन्हें भारतीय लोकतंत्र के विकास से जोड़ा। उनके अनुसार, किसान आंदोलन वर्ग-संघर्ष की अभिव्यक्ति हैं। ग्रामीण समाज में शोषण की जड़ें आर्थिक संबंधों में हैं। उनका मानना था कि किसी भी बड़े सामाजिक परिवर्तन या क्रांति के लिए जन-चेतना का जागृत होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से उन्होंने न केवल मार्क्सवादी

समाजशास्त्र का विकास किया, बल्कि पुस्तकों का संपादन किया। स्वयं आंदोलनों में सक्रिय रूप से भाग लिया। देसाई ने स्पष्ट रूप से कहा कि राज्य की पूँजीवादी नीतियों का भारतीय समाज पर गहरा और नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। इसलिए उनका विचार था कि जनता को संगठित होकर अधिक से अधिक आंदोलनों के माध्यम से पूँजीवादी राज्य का विरोध करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट होता है कि देसाई केवल विचारक ही नहीं, बल्कि एक सक्रिय कार्यकर्ता भी थे।

देसाई ने ग्रामीण समाजशास्त्र, आधुनिकीकरण, कृषक आंदोलन और श्रमिक आंदोलन से संबंधित अनेक पुस्तकों का संपादन किया। उनके संपादन की विशेषता यह थी कि वे प्रत्येक लेखन में अपनी संपादकीय टिप्पणी स्पष्ट करते थे कि राज्य की पूँजीवादी भूमिका के मार्ग में चल रहा है और जिसके परिणाम स्वरूप गरीब और कमजोर वर्गों पर अधिक बोझ पड़ रहा है। देसाई का मत था कि राष्ट्रवादी आंदोलन की अपेक्षाओं के विपरीत, स्वतंत्रता के बाद भारतीय राज्य ने समाज के रूपांतरण की पूँजीवादी प्रक्रिया को आगे बढ़ाया। उनके इस अध्ययन का केंद्र ऐतिहासिक पद्धति रही। वे स्वातंत्र्योत्तर विकास पथ की उत्पत्ति को राष्ट्रवादी आंदोलन के दौरान किए गए वर्गीय विकल्पों तथा उस पर पूँजीपति वर्ग के बढ़ते प्रभाव से जोड़ते हैं।

देसाई द्वारा संपादित कृति रूरल सोशियोलॉजी इन इंडिया (1969) तथा पीज़ेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया (1979) में ग्रामीण समाज में दशकों से हो रहे परिवर्तनों का विस्तृत चित्र प्रस्तुत किया गयाहैं। इनमें उन्होंने यह दिखाया कि स्वतंत्रता के बाद राज्य की नीतियों का मुख्य उद्देश्य कृषि ढाँचे को पूँजीवाद-पूर्व संबंधों से पूँजीवादी संबंधों में बदलना रहा। भूमि सुधारों और विकास कार्यक्रमों के माध्यम से जमींदारी के उन्मूलन के साथ-साथ कृषि पूँजीपतियों, धनी और मध्यम किसानों का एक वर्ग उभरा, जबकि दूसरी ओर भूमिहीन और निर्धन ग्रामीण सर्वहारा वर्ग का विस्तार हुआ। अब ग्रामीण समाज में किसान एक समान नहीं रहे, बल्कि बड़े किसान, छोटे किसान, सीमान्त किसान और भूमिहीन किसान जैसे विभिन्न वर्गों में बँट गए हैं, जिनके बीच आपसी संघर्ष भी बढ़ गया है। गाँवों में प्रभावशाली जातियों का प्रभुत्व बढ़ गया है, जबकि कमजोर जाति और वर्ग अधिक उपेक्षित हो गया हैं।

देसाई के अनुसार पूँजीवादी राज्य ने कृषि को एक पूँजीवादी व्यवसाय में बदल दिया है। यद्यपि जमींदारी और जागीरदारी व्यवस्था समाप्त कर दी गई, लेकिन उनकी जगह अब बड़े किसान और राजनीतिक नेता नए शोषक वर्ग के रूप में उभर आए हैं। देसाई का निष्कर्ष था कि राज्य के संरक्षण में बढ़ रहे पूँजीवाद के कारण शोषण आज भी बना हुआ है, और इसी शोषण के विरोध में कृषक आंदोलन उभरते हैं।

10.9 लोकतांत्रिक अधिकार

प्रजातांत्रिक अधिकारों के प्रबल समर्थक थे। वे अपने पूरे जीवन में किसानों, मजदूरों, स्त्रियों और आम जनता के अधिकारों के लिए संघर्ष करते रहे। देसाई ने प्रजातांत्रिक अधिकारों को समझने के लिए उन्हें तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया।

1. बुर्जुआ वर्ग के संपत्ति संबंधी अधिकार

बुर्जुआ वर्ग में पूँजीपति, उच्च अधिकारी और सार्वजनिक क्षेत्र के वरिष्ठ पदाधिकारी शामिल होते हैं। इस वर्ग को कानून द्वारा संपत्ति रखने का पूरा अधिकार प्राप्त है। यद्यपि अधिक संपत्ति पर आयकर देना पड़ता है, फिर भी वे किसी भी रूप में और किसी भी मात्रा में संपत्ति के स्वामी हो सकते हैं। बड़े पूँजीपति जैसे उद्योगपति अपनी संपत्ति पर पूर्ण नियंत्रण रखते हैं।

2. नागरिक स्वतंत्रताएँ और अधिकार

भारतीय संविधान सभी नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार देता है, जैसे— बोलने की स्वतंत्रता, सभा करने का अधिकार, मीडिया की स्वतंत्रता, धर्मनिरपेक्षता और शिक्षा का अधिकार। देसाई का कहना था कि ये अधिकार सभी के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं, लेकिन व्यवहार में इनका सबसे अधिक लाभ पूँजीपति और शक्तिशाली वर्ग ही उठाते हैं। गरीब और कमजोर वर्ग अक्सर इन अधिकारों का प्रभावी ढंग से उपयोग नहीं कर पाते।

3. सर्वहारा वर्ग के अधिकार

देसाई के अनुसार जिस प्रकार बुर्जुआ वर्ग को अपने अधिकार प्राप्त हैं, उसी प्रकार सर्वहारा वर्ग यानी मजदूरों और किसानों को भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने का पूरा हक है। वे राज्य या किसी संस्था के खिलाफ विरोध कर सकते हैं, हड़ताल कर सकते हैं, धरना और प्रदर्शन कर सकते हैं। शोषण के विरुद्ध संघर्ष करना उनका वैध अधिकार है। भारत की कम्युनिस्ट पार्टियाँ दो-चरणीय क्रांति की बात करती हैं। पहले चरण में वे जनता का प्रजातंत्र स्थापित करना चाहती हैं। इसके बाद दूसरे चरण में समाजवादी क्रांति लाने का लक्ष्य रखा जाता है। यद्यपि ए. आर. देसाई एक कट्टर मार्क्सवादी थे। फिर भी वे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टियों की दो-चरणीय क्रांति की नीति से सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि भारत में पूँजीवाद इतना मजबूत हो चुका है कि गरीबी, बेरोजगारी और निरक्षरता जैसी समस्याओं का समाधान केवल समाजवादी क्रांति से ही संभव है। केवल प्रजातांत्रिक सुधार या चरणबद्ध क्रांति इन समस्याओं को दूर नहीं कर सकती।

10.10 राज्य की अवधारणा: राज्य एक वर्ग रूप में

ए. आर. देसाई के अनुसार राज्य कोई तटस्थ संस्था नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी राज्य ने एक बुर्जुआ वर्ग की तरह ही कार्य किया है और उसकी नीतियाँ मुख्यतः पूँजीपति वर्ग के हितों को बढ़ावा देती रही हैं। ए. आर. देसाई का समाज वह समाज था जिसने स्वतंत्रता संग्राम के दौर को जिया और जिसमें सामंतवाद तथा उपनिवेशवाद दोनों के अनुभव मौजूद थे। देसाई की दृष्टि में उस समय का औपनिवेशिक राज्य मूलतः एक पूँजीवादी राज्य था। उनका मानना था कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी भारतीय राज्य की मूल प्रकृति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं आया और स्वतंत्र भारत का राज्य भी पूँजीवादी ही बना रहा। इस प्रकार देसाई का मार्क्सवादी दृष्टिकोण भारतीय राज्य को एक पूँजीवादी वर्ग-राज्य के रूप में स्थापित करता है।

देसाई का एक महत्वपूर्ण तर्क यह है कि भारतीय राज्य तटस्थ संस्था नहीं, बल्कि एक वर्गीय राज्य है। उनके अनुसार औपनिवेशिक काल में राज्य पूँजीवादी था और स्वतंत्र भारत में भी उसकी मूल प्रकृति पूँजीवादी ही बनी रही। राज्य ने पूँजीपति वर्ग के साथ तालमेल बनाकर उत्पादन प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका निभाई और निजी उत्पादन साधनों की रक्षा की। इस दृष्टिकोण से सभी विद्वान सहमत नहीं हैं। रजनी कोठारी के अनुसार, स्वतंत्रता के बाद प्रारंभिक दशकों में भारतीय राज्य पूरी तरह पूँजीपति वर्ग के नियंत्रण में नहीं था और वह समानता लाने की दिशा में भी प्रयासरत रहा। उनके अनुसार आपातकाल के बाद राज्य की प्रकृति में परिवर्तन आया और पूँजीपति वर्ग का प्रभाव अधिक स्पष्ट हुआ। इन मतभेदों के बावजूद देसाई का निष्कर्ष स्पष्ट है। उनके अनुसार किसी भी उत्पादन प्रणाली में राज्य अंततः पिछड़े और शोषित वर्गों के विरुद्ध काम करता है। संविधान द्वारा दिए गए अधिकार व्यवहार में आम जनता तक नहीं पहुँच पाते और राज्य अनेक तरीकों से नियंत्रण और दबाव बनाए रखता है। देसाई केवल एक मार्क्सवादी समाजशास्त्री ही नहीं, बल्कि एक सक्रिय कार्यकर्ता भी थे। युवक, मजदूर, किसान, स्त्रियाँ, झोपड़पट्टी और ग्रामीण समाज उनके समाजवाद की वास्तविक बुनियाद थे। उनका मानना था कि भारतीय राष्ट्रवाद का उद्भव ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक शक्तियों से हुआ है, इसलिए उसका विश्लेषण भी इन्हीं संदर्भों में किया जाना चाहिए।

बोध प्रश्न 2.

देसाई के अनुसार स्वतंत्र भारत का राज्य किस प्रकृति का है?

A. समाजवादी राज्य B. कल्याणकारी राज्य

C. तटस्थ राज्य D. पूँजीवादी राज्य

10.11 सारांश

ए. आर. देसाई भारतीय समाजशास्त्र के प्रमुख मार्क्सवादी चिंतक थे। उन्होंने भारतीय समाज, राष्ट्रवाद और राज्य का विश्लेषण ऐतिहासिक-भौतिकवादी दृष्टिकोण से किया। देसाई के अनुसार भारतीय राष्ट्रवादी आंदोलन का सामाजिक-आर्थिक आधार वर्ग संरचना में निहित था। स्वतंत्रता के बाद भी भारतीय राज्य की प्रकृति मूलतः पूँजीवादी बनी रही। उनका अध्ययन इस बात को स्पष्ट करता है कि सामाजिक परिवर्तन में राज्य और वर्ग-संघर्ष की निर्णायक भूमिका होती है। इस प्रकार देसाई का योगदान भारतीय समाजशास्त्र को एक आलोचनात्मक और वैज्ञानिक दिशा प्रदान करता है।

10.12 पारिभाषिक शब्दावली

सर्वहारा- सर्वहारा वह सामाजिक वर्ग है जिसके पास उत्पादन के साधन (जैसे भूमि, कारखाने, मशीनें) नहीं होते। यह वर्ग अपनी श्रम-शक्ति बेचकर जीवन यापन करता है, जैसे मजदूर, किसान मजदूर, कारखानों के श्रमिक आदि। मार्क्सवादी विचारधारा में सर्वहारा को शोषित वर्ग माना गया है।

बुर्जुआ- बुर्जुआ वह वर्ग है जिसके पास उत्पादन के साधन होते हैं। यह वर्ग पूँजी, उद्योग, व्यापार और भूमि पर नियंत्रण रखता है तथा सर्वहारा के श्रम से लाभ अर्जित करता है। मार्क्स के अनुसार बुर्जुआ वर्ग शोषक वर्ग है।

10.13 बोध प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न-1 उत्तर: C

बोध प्रश्न-2 उत्तर: D

10.14 संदर्भ ग्रंथ

1. दोषी, एस. एल. (2006). भारतीय समाजशास्त्रीय चिंतन. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।

2. रावत, हरिकृष्ण (2011). भारतीय सामाजिक विचारक एवं समाजशास्त्रीय सिद्धांत. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।

3. गुप्ता, एम. एल. (2008). आधुनिक भारत में सामाजिक चिंतन. नई दिल्ली: कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी।

4. गुप्ता, डी. डी. (2012). भारतीय समाज और सामाजिक विचार. नई दिल्ली: कनिष्क पब्लिशर्स।

10.15 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

पुस्तक

भारतीय सामाजिक विचारक, एस. एल. दोषी।

समाजशास्त्रीय चिन्तक एवं सिद्धान्तकार, हरिकृष्ण रावत।

सामाजिक विचारक, एम. एल. गुप्ता एवं डॉ. डी. डी. गुप्ता।

10.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1. ए. आर. देसाई का संक्षिप्त जीवन-परिचय लिखिए।
2. ए. आर. देसाई के अनुसार भारतीय राज्य की प्रकृति क्या है?
3. देसाई ने भारतीय समाज के अध्ययन में किस पद्धति का प्रयोग किया?
4. ए. आर. देसाई के अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद का सामाजिक आधार क्या था?

इकाई-11

आंद्रे बेते (Andre Beteille)

इकाई की रूपरेखा

11.0 प्रस्तावना

11.1 उद्देश्य

11.2 जीवन परिचय

11.3 प्रमुख पुस्तकें

11.4 भारतीय समाजशास्त्र में आंद्रे बेते का योगदान

11.5 अध्ययन क्षेत्र : तंजौर जिला एवं श्रीपुरम गाँव

11.6 सारांश

11.8 बोध प्रश्न के उत्तर

11.9 संदर्भ ग्रंथ

11.10 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

11.11 निबन्धात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

आंद्रे बेते भारतीय समाजशास्त्र के उन चुनिंदा विद्वानों में से हैं, जिन्होंने भारतीय समाज को समझने के लिए न केवल सैद्धांतिक अवधारणाओं का प्रयोग किया, बल्कि उन्हें अनुभवजन्य अनुसंधान और व्यावहारिक सामाजिक यथार्थ से भी जोड़ा। वे समकालीन भारतीय समाजशास्त्र में एक ऐसे विचारक के रूप में प्रतिष्ठित हैं, जिनका चिंतन संतुलित, वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ रहा है। उनका समाजशास्त्र न तो किसी एक विचारधारा के प्रति अंध-आस्थावान है और न ही केवल पश्चिमी सिद्धांतों की नकल करता है, बल्कि वह भारतीय समाज की विशिष्टताओं को केंद्र में रखकर उसका विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

आंद्रे बेते विशेष रूप से जाति, वर्ग और शक्ति की संरचना, सामाजिक असमानता, स्तरीकरण, धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र तथा आधुनिकता जैसे विषयों के अध्ययन के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भारतीय समाज को समझने के लिए जाति, वर्ग और शक्ति को अलग-अलग नहीं, बल्कि परस्पर संबद्ध सामाजिक प्रक्रियाओं के रूप में देखना आवश्यक है। उनका योगदान इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि उन्होंने समाजशास्त्र को केवल अकादमिक जगत तक सीमित न रखकर उसे व्यापक सामाजिक विमर्श से जोड़ा।

बेते का मानना है कि समाजशास्त्र का उद्देश्य केवल समाज का वर्णन करना नहीं, बल्कि सामाजिक समस्याओं की आलोचनात्मक समझ विकसित करना और उनके समाधान में बौद्धिक सहभागिता करना है। इसी कारण उन्होंने अपने लेखन और वक्तव्यों के माध्यम से समाजशास्त्रीय ज्ञान को सामान्य जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया। वे इस विचार के प्रबल समर्थक रहे हैं कि वह ज्ञान निरर्थक है, जो केवल पुस्तकालयों या विश्वविद्यालयों की दीवारों के भीतर सीमित रह जाए।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् शिक्षार्थी—

- आंद्रे बेते के जीवन और कृतित्व को समझ सकेंगे।
- जाति, वर्ग और शक्ति के बदलते प्रतिमानों की व्याख्या कर सकेंगे।
- श्रीपुरम गाँव के अध्ययन के माध्यम से भारतीय ग्रामीण समाज को समझ सकेंगे।

11.2 जीवन परिचय

आंद्रे बेते का जन्म 30 सितंबर 1934 को पश्चिम बंगाल में हुआ। उनका पारिवारिक और सामाजिक परिवेश बौद्धिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध था, जिसने उनके विचारों को गहराई प्रदान की। प्रारंभिक शिक्षा के पश्चात् उन्होंने समाजशास्त्र को अपने अध्ययन का मुख्य विषय बनाया और भारत के साथ-साथ विदेश में भी उच्च शिक्षा प्राप्त की। उन्होंने भारत में समाजशास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने के बाद ब्रिटेन के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से उच्च अध्ययन किया। इस प्रकार उन्हें भारतीय और पश्चिमी—दोनों समाजशास्त्रीय परंपराओं को निकट से समझने का अवसर मिला। यही कारण है कि उनके विचारों में न तो पश्चिमी समाजशास्त्र का अंधानुकरण दिखाई देता है और न ही परंपरावाद का आग्रह, बल्कि एक तुलनात्मक और संतुलित दृष्टिकोण उभरकर सामने आता है। आंद्रे बेते लंबे समय तक दिल्ली विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफेसर के रूप में कार्यरत रहे। अध्यापन के साथ-साथ उन्होंने निरंतर शोध और लेखन किया। उनके प्रयासों से भारतीय समाजशास्त्र को अंतरराष्ट्रीय अकादमिक मंचों पर पहचान मिली। वे उन समाजशास्त्रियों में शामिल हैं, जिन्होंने भारतीय समाज को केवल परंपरागत कहकर खारिज नहीं किया, बल्कि उसके भीतर मौजूद गतिशीलता और परिवर्तनशीलता को रेखांकित किया।

उनके अकादमिक योगदान को राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर व्यापक मान्यता मिली। समाजशास्त्र के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए उन्हें 2005 में पद्म भूषण सम्मान से अलंकृत किया गया। इसके अतिरिक्त, वे कई अंतरराष्ट्रीय अकादमिक संस्थानों और बौद्धिक मंचों से भी जुड़े रहे। उनका जीवन एक ऐसे समाजशास्त्री का उदाहरण प्रस्तुत करता है, जो अकादमिक गंभीरता के साथ-साथ सामाजिक उत्तरदायित्व को भी महत्व देता है।

11.3 प्रमुख पुस्तकें एवं लेखन

उनकी प्रमुख पुस्तकों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

1. कास्ट, क्लास एण्ड पॉवर- चेंजिंग पैट्नर्स ऑफ स्ट्राटिफिकेशन इन ए तंजौर विलेज (1971)

2. स्टडीज़ इन अग्रेरियन सोश्यल स्ट्रक्चर (1971)

3. इन इक्वेलिटी अमांग मेन (1977)

4. आईडोलोजिज एण्ड इन्टेलिक्चुअल्स (1981)

5. इक्वेलिटी एण्ड इनइक्वेलिटी - थॉट एण्ड प्रेक्टिस (1983)

6. सोसायटी एण्ड पोलिटिक्स इन इंडिया (1991)

7. ऐसेज़ इन कम्पेरेटिव सोश्योलॉजी (1987)

11.4 भारतीय समाजशास्त्र में आंद्रे बेते का योगदान

भारतीय समाजशास्त्र में आंद्रे बेते का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण और बहुआयामी है। उन्होंने भारतीय समाज को समझने के लिए एक ऐसी दृष्टि विकसित की, जो न तो केवल परंपरागत थी और न ही विशुद्ध रूप से पश्चिमी सिद्धांतों पर आधारित। उनका योगदान इस अर्थ में विशिष्ट है कि उन्होंने समाजशास्त्र को वैज्ञानिक, अनुभवजन्य और तुलनात्मक आधार प्रदान किया तथा उसे सामाजिक यथार्थ से जोड़ा।

(क) अनुभवजन्य समाजशास्त्र का विकास

आंद्रे बेते का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र में अनुभवजन्य अनुसंधान को केंद्रीय स्थान दिया। उनके अनुसार समाज को समझने के लिए प्रत्यक्ष क्षेत्र-अध्ययन, तथ्यों का संकलन और उनका विश्लेषण अनिवार्य है। उन्होंने केवल सैद्धांतिक बहसों तक सीमित रहने के बजाय ग्रामीण समाज में जाकर वास्तविक सामाजिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया।

श्रीपुरम गाँव का अध्ययन इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसमें उन्होंने यह दिखाया कि भारतीय ग्रामीण समाज को केवल परंपरागत या स्थिर नहीं माना जा सकता। उन्होंने जाति, वर्ग और शक्ति के संबंधों को बदलती परिस्थितियों में समझा और यह स्पष्ट किया कि सामाजिक संरचनाएँ समय के साथ निरंतर रूपांतरित होती रहती हैं।

(ख) जाति, वर्ग और शक्ति की समेकित व्याख्या

भारतीय समाजशास्त्र में लंबे समय तक जाति को ही सामाजिक स्तरीकरण का मुख्य आधार माना जाता रहा। आंद्रे बेते ने इस दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भारतीय समाज को समझने के लिए जाति, वर्ग और शक्ति—तीनों को एक साथ देखना आवश्यक है। उनके अनुसार, जाति सामाजिक प्रतिष्ठा, परंपरा और धार्मिक मूल्यों से जुड़ी है। वर्ग उत्पादन के साधनों, आर्थिक स्थिति और आजीविका से संबंधित है। तथा शक्ति राजनीतिक संस्थाओं, पंचायतों, दलों और राज्य से जुड़ी हुई है। बेते का योगदान यह है कि उन्होंने इन तीनों को अलग-अलग इकाइयों के रूप में नहीं, बल्कि परस्पर अंतर्संबंधित संरचनाओं के रूप में समझाया। उन्होंने दिखाया कि आधुनिक भारत में वर्ग और शक्ति की भूमिका बढ़ रही है, जबकि जाति पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है।

(ग) संतुलित और गैर-वैचारिक दृष्टिकोण

आंद्रे बेते की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उनका समाजशास्त्र किसी एक विचारधारा से बँधा हुआ नहीं है। उन्होंने न तो मार्क्सवाद को पूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार किया और न ही संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण को अंतिम माना। वे प्रत्येक सिद्धांत की उपयोगिता को उसके संदर्भ में स्वीकार करते हैं।

उन्होंने मार्क्स के वर्ग-संघर्ष सिद्धांत से आर्थिक असमानता को समझने का प्रयास किया, लेकिन यह भी स्पष्ट किया कि भारतीय समाज में जाति की भूमिका को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार, उन्होंने वेबर के प्रस्थिति समूह की अवधारणा का प्रयोग कर जाति को सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़ा, किंतु इसे पूर्ण व्याख्या नहीं माना।

(घ) सार्वजनिक समाजशास्त्र और मीडिया की भूमिका

आंद्रे बेते का योगदान केवल अकादमिक लेखन तक सीमित नहीं रहा। उन्होंने समाजशास्त्र को सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनाने का प्रयास किया। उन्होंने समाचार पत्रों, पत्रिकाओं और सार्वजनिक मंचों के माध्यम से सामाजिक मुद्दों पर लेखन किया। उनका मानना था कि ज्ञान को केवल पुस्तकालयों तक सीमित रहना चाहिए। उन्होंने सामाजिक असमानता, धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र और नैतिक मूल्यों जैसे विषयों पर आम जनता के बीच संवाद स्थापित किया।

(ङ) ग्रामीण समाज के अध्ययन में योगदान

आंद्रे बेते ने भारतीय ग्रामीण समाज को समझने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भारतीय गाँव न तो पूरी तरह आत्मनिर्भर हैं और न ही बाहरी प्रभावों से अछूते। गाँव और शहर के बीच निरंतर संपर्क बना हुआ है। श्रीपुरम गाँव के अध्ययन में में पाया कि —

- भूमि बाजार की वस्तु बन रही है।
- लोग गाँव से बाहर जाकर श्वेतपोश रोजगार अपना रहे हैं।
- राजनीतिक दल गाँव की सत्ता-संरचना को प्रभावित कर रहे हैं।

इस प्रकार, उन्होंने ग्रामीण समाज को गतिशील और परिवर्तनशील रूप में प्रस्तुत किया।

(च) सामाजिक असमानता और लोकतंत्र

आंद्रे बेते ने सामाजिक असमानता को केवल आर्थिक समस्या नहीं माना, बल्कि उसे सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं से जोड़कर देखा। उनके अनुसार लोकतंत्र तभी सार्थक हो सकता है, जब उसमें सामाजिक समानता और न्याय का तत्व मौजूद हो। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि लोकतांत्रिक संस्थाएँ—जैसे पंचायत शक्ति के विकेंद्रीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इससे सामान्य व्यक्ति को सत्ता में भागीदारी का अवसर मिलता है।

11.5 अध्ययन क्षेत्र : तंजौर जिला एवं श्रीपुरम गाँव

आंद्रे बेते द्वारा किया गया समाजशास्त्रीय अध्ययन तमिलनाडु राज्य के तंजौर जिले में स्थित श्रीपुरम गाँव पर आधारित है। यह क्षेत्र लंबे समय से समाजशास्त्रियों के लिए विशेष आकर्षण का केंद्र रहा है, क्योंकि यहाँ परंपरा और परिवर्तन का सह-अस्तित्व स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से तंजौर को "परंपरा की निरंतरता" का एक उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। चोल साम्राज्य के काल से ही यह क्षेत्र राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक गतिविधियों का प्रमुख केंद्र रहा है।

तंजौर की सामाजिक संरचना लंबे समय तक ब्राह्मण प्रभुत्व के लिए जानी जाती रही है। यहाँ भूमि स्वामित्व, धार्मिक अधिकार, शिक्षा और प्रशासनिक पदों पर ब्राह्मणों का वर्चस्व रहा। किंतु औपनिवेशिक काल, स्वतंत्रता आंदोलन, आधुनिक शिक्षा, लोकतांत्रिक संस्थाओं और राजनीतिक आंदोलनों के प्रभाव से इस संरचना में गहरे परिवर्तन आए। इन्हीं परिवर्तनों को समझने के लिए बेते ने श्रीपुरम गाँव को अध्ययन का केंद्र बनाया। बेते का मानना था कि किसी भी समाज को समझने के लिए उसके स्थानीय संदर्भ, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और समकालीन परिवर्तनों को एक साथ देखना आवश्यक है। श्रीपुरम गाँव इस दृष्टि से आदर्श अध्ययन-क्षेत्र था, क्योंकि यहाँ जाति, वर्ग और शक्ति की संरचनाएँ एक-दूसरे के साथ जुड़ी हुई थीं और परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रत्यक्ष रूप से देखा जा सकता था।

बोध प्रश्न1

आंद्रे बेते का प्रसिद्ध अध्ययन किस गाँव पर आधारित है?

(A) रामपुर (B) श्रीपुरम (C) चंपारण (D) नांदेड

बोध प्रश्न2

पंचायती राज व्यवस्था का मुख्य प्रभाव क्या है?

(A) जाति का उन्मूलन (B) शक्ति का केंद्रीकरण

(C) शक्ति का विकेंद्रीकरण (D) वर्ग संघर्ष की समाप्ति

श्रीपुरम : ग्रामीण भारत में जाति, वर्ग और शक्ति

आंद्रे बेते ने श्रीपुरम गाँव के अध्ययन में मुख्य रूप से अनुभवजन्य (Empirical) पद्धति का प्रयोग किया। अधिकांश मौलिक तथ्यों का संकलन उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से गाँव में रहकर, अवलोकन, साक्षात्कार और स्थानीय अभिलेखों के माध्यम से किया। साथ ही, अध्ययन को व्यापक और संतुलित बनाने के लिए ऐतिहासिक दस्तावेज़ों, सरकारी रिपोर्टों और तुलनात्मक विधियों का भी उपयोग किया गया। बेते का उद्देश्य केवल गाँव का वर्णन करना नहीं था, बल्कि यह समझना था कि किस प्रकार जाति, वर्ग और शक्ति की संरचनाएँ समय के साथ बदलती हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। इसी कारण उन्होंने अध्ययन को दीर्घकालिक सामाजिक प्रक्रियाओं के संदर्भ में रखा।

श्रीपुरम की सामाजिक संरचना- श्रीपुरम गाँव की सामाजिक संरचना मुख्यतः ब्राह्मण, गैर-ब्राह्मण, तथा आदि द्रविड़ (अनुसूचित जातियाँ) तीन प्रमुख समूहों में विभक्त थी । यह विभाजन केवल सामाजिक पहचान तक सीमित नहीं था, बल्कि इसका प्रभाव आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक जीवन पर भी पड़ता था। परंपरागत रूप से ब्राह्मण धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से उच्च स्थान पर थे तथा भूमि के प्रमुख स्वामी भी वही थे। गैर-ब्राह्मण जातियाँ कृषि कार्य, काश्तकारी और स्थानीय व्यापार से जुड़ी थीं, जबकि आदि द्रविड़ समुदाय मुख्यतः कृषि श्रमिक के रूप में कार्य करता था। बेते ने यह स्पष्ट किया कि श्रीपुरम में जातिगत स्थिति और आर्थिक स्थिति अक्सर एक-दूसरे से जुड़ी होती है, किंतु यह संबंध स्थिर नहीं है और समय के साथ बदलता रहता है।

आर्थिक संरचना और वर्ग विभाजन

श्रीपुरम गाँव की आर्थिक संरचना मुख्यतः कृषि पर आधारित थी। वर्ग संरचना में भूमि-मालिक, काश्तकार, तथा कृषि मजदूर प्रमुख श्रेणियाँ पाई जाती थी। परंपरागत रूप से भूमि का स्वामित्व ब्राह्मणों के हाथों में था, जिससे उन्हें आर्थिक और सामाजिक दोनों प्रकार की शक्ति प्राप्त होती थी। किंतु आधुनिकता की प्रक्रिया के साथ भूमि बाज़ार की वस्तु बनने लगी। कई ब्राह्मण परिवारों ने अपनी भूमि बेच दी, जिसे गैर-ब्राह्मण और निम्न जातियों के लोगों ने खरीदा। इससे वर्ग संरचना में गतिशीलता आई और परंपरागत अभिजात वर्ग का प्रभुत्व धीरे-धीरे कमजोर पड़ा। बेते ने अध्ययन में पाया कि एक ही व्यक्ति कई भूमिकाएँ निभा सकता है—जैसे कोई व्यक्ति भूमि का छोटा मालिक भी हो सकता है और साथ ही किसी अन्य के खेत में मजदूरी भी कर सकता है। इस प्रकार वर्ग संरचना सरल नहीं, बल्कि जटिल और बहुस्तरीय है।

शक्ति संरचना और पंचायत की भूमिका

शक्ति को औपचारिक रूप से परिभाषित करना कठिन है, किंतु बेते के अनुसार श्रीपुरम में शक्ति का औपचारिक केंद्र ग्राम पंचायत में निहित था। पंचायती राज व्यवस्था और वयस्क मताधिकार के विस्तार से गाँव की राजनीति में नए वर्गों और समूहों की भागीदारी बढ़ी। परंपरागत रूप से शक्ति ब्राह्मणों के हाथों में केंद्रित थी, किंतु समय के साथ यह शक्ति गैर-ब्राह्मणों और स्थानीय नेताओं की ओर स्थानांतरित होने लगी। पंचायत, राजनीतिक दलों और सरकारी अधिकारियों के साथ संबंधों ने शक्ति की नई संरचना को जन्म दिया। इस प्रकार, शक्ति अब केवल जाति पर आधारित न रहकर वर्ग, संख्या-बल और राजनीतिक संगठन पर आधारित होने लगी।

बोध प्रश्न2

पंचायती राज व्यवस्था का मुख्य प्रभाव क्या है?

(A) जाति का उन्मूलन (B) शक्ति का केंद्रीकरण

(C) शक्ति का विकेंद्रीकरण (D) वर्ग संघर्ष की समाप्ति

बाह्य संपर्क और सामाजिक गतिशीलता

श्रीपुरम गाँव कभी भी पूर्णतः आत्मनिर्भर इकाई नहीं रहा। पिछले 6–8 दशकों में बाह्य जगत से इसका संपर्क और अधिक बढ़ा। गाँव के लोग शिक्षा, रोजगार और व्यापार के लिए शहरों की ओर जाने लगे। कई लोग श्वेतपोश (White-collar) नौकरियों में संलग्न हुए और गाँव से बाहर रहकर भी अपने पारिवारिक और सामाजिक संबंध बनाए रखे। इस बाह्य संपर्क का प्रभाव गाँव की अर्थव्यवस्था, जीवन-स्तर और सामाजिक मूल्यों पर पड़ा। नकदी फसलों का उत्पादन बढ़ा और धन का प्रवाह गाँव में भूमि-विक्रय, कृषि उत्पाद और बाहर कार्यरत लोगों की आय के माध्यम से होने लगा।

राजनीतिकरण और दलीय राजनीति

बेते ने यह भी दर्शाया कि श्रीपुरम गाँव का राजनीतिकरण बढ़ गया है। गाँव की राजनीति अब केवल स्थानीय स्तर तक सीमित नहीं रही, बल्कि वह जिला और राज्य स्तर की राजनीति से जुड़ गई। विभिन्न राजनीतिक दलों की सक्रियता से जाति और वर्ग की भूमिका राजनीति में और अधिक स्पष्ट हुई। गाँव के लोगों के संबंध विधायकों, सरकारी अधिकारियों और दलों के नेताओं से बने। इससे शक्ति का स्वरूप और अधिक जटिल हो गया। बेते के अनुसार, शक्ति को केवल सामाजिक स्तरीकरण के रूप में नहीं, बल्कि राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के संदर्भ में समझना आवश्यक है।

परंपरा और आधुनिकता का अंत:संघर्ष

श्रीपुरम गाँव का अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि भारतीय ग्रामीण समाज में परंपरा और आधुनिकता के बीच निरंतर संघर्ष और समन्वय चलता रहता है। एक ओर जाति संरचना अब भी प्रभावशाली है, वहीं दूसरी ओर शिक्षा, रोजगार, लोकतंत्र और बाजार ने नए अवसर और पहचानें उत्पन्न की हैं। बेते का निष्कर्ष है कि आधुनिकता ने जाति व्यवस्था को पूरी तरह

समाप्त नहीं किया, बल्कि उसे नए रूप प्रदान किए हैं। वर्ग और शक्ति की बढ़ती भूमिका ने जाति-आधारित प्रभुत्व को चुनौती दी है, किंतु जाति का महत्व अभी भी बना हुआ है।

जाति, वर्ग और शक्ति

आंद्रे बेते के समाजशास्त्रीय अध्ययन का केन्द्रीय बिंदु जाति, वर्ग और शक्ति के बीच विद्यमान जटिल अंतर्संबंधों को समझना है। उनका मानना है कि भारतीय समाज की संरचना को समझने के लिए इन तीनों आयामों को अलग-अलग नहीं, बल्कि सामूहिक सामाजिक स्तरीकरण के रूप में देखना चाहिए। भारतीय समाज में सामाजिक असमानता केवल आर्थिक या राजनीतिक नहीं है, बल्कि वह सामाजिक प्रतिष्ठा, परंपरा और संस्थागत शक्ति से भी जुड़ी हुई है।बेते के अनुसार, जाति, वर्ग और शक्ति कभी एक-दूसरे से मेल खाते हैं और कभी एक-दूसरे से भिन्न दिखाई देते हैं। यही कारण है कि भारतीय समाज की संरचना सरल नहीं, बल्कि अत्यंत जटिल और बहुस्तरीय है।

जाति : सामाजिक प्रतिष्ठा और परंपरा का आधार

आंद्रे बेते के अनुसार जाति भारतीय समाज की एक ऐसी संस्था है, जिसे केवल धार्मिक या सांस्कृतिक दृष्टि से नहीं समझा जा सकता। जाति सामाजिक नियमों, मूल्यों और व्यवहारों का एक संगठित ढाँचा है, जिसके माध्यम से समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा निर्धारित होती है। जाति व्यवस्था व्यक्ति के जीवन के अनेक क्षेत्रों—जैसे विवाह, भोजन, व्यवसाय और सामाजिक संपर्क—को प्रभावित करती है। श्रीपुरम गाँव के अध्ययन में बेते ने यह पाया गया कि जाति संरचना पारंपरिक समाज को प्रतिबिंबित करती है। यह संरचना समाज को असमान स्तरों में विभाजित करती है और राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन पर भी प्रभाव डालती है। यद्यपि आधुनिकता और शिक्षा के प्रसार से जाति की भूमिका में परिवर्तन आया है, फिर भी जाति पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। बेते का यह निष्कर्ष महत्वपूर्ण है कि जाति व्यवस्था स्थिर नहीं है, बल्कि वह समय के साथ नए रूपों में परिवर्तित होती रही है। आज जाति का प्रभाव प्रत्यक्ष से अधिक अप्रत्यक्ष रूप में दिखाई देता है।

वर्ग : आर्थिक स्थिति और उत्पादन के साधन

जाति के अतिरिक्त, वर्ग भी सामाजिक स्तरीकरण का एक महत्वपूर्ण आधार है। वर्ग से तात्पर्य उस सामाजिक श्रेणी से है, जिसकी स्थिति उत्पादन के साधनों के संदर्भ में निर्धारित होती है। इस संदर्भ में बेते ने वर्ग को केवल संघर्ष के रूप में नहीं, बल्कि आर्थिक संरचना के रूप में समझा है। वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत के संदर्भ में कार्ल मार्क्स का विशेष महत्व है। मार्क्स के अनुसार समाज दो प्रमुख वर्गों में विभक्त होता है— उत्पादन के साधनों का स्वामी वर्ग (पूँजीपति), और उत्पादन के साधनों से वंचित श्रमिक वर्ग।

मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन की मूल शक्ति माना। परंतु आंद्रे बेते का मत है कि भारतीय समाज में वर्ग की अवधारणा को केवल संघर्ष तक सीमित नहीं किया जा सकता। भारत में वर्ग संरचना जाति से प्रभावित रही है और दोनों

के बीच गहरा संबंध रहा है। श्रीपुरम गाँव के संदर्भ में वर्ग संरचना में भूमि-मालिक, काश्तकार और कृषक मजदूर शामिल हैं। यहाँ वर्ग और जाति अक्सर एक-दूसरे पर अधिव्याप्त (overlapping) दिखाई देते हैं। किंतु आधुनिकता के साथ वर्ग में अधिक गतिशीलता आई है, जिससे नए वर्गों का उदय हुआ है।

शक्ति : संस्थागत और राजनीतिक आयाम

शक्ति सामाजिक स्तरीकरण का तीसरा महत्वपूर्ण आयाम है। बेते के अनुसार शक्ति को केवल आर्थिक संपत्ति या सामाजिक प्रतिष्ठा से नहीं समझा जा सकता। शक्ति का संबंध राजनीतिक संस्थाओं, प्रशासनिक ढाँचे और दलीय राजनीति से भी है।

श्रीपुरम गाँव में शक्ति का औपचारिक केंद्र ग्राम पंचायत में निहित है। वयस्क मताधिकार और पंचायती राज व्यवस्था के विस्तार से शक्ति का विकेंद्रीकरण हुआ है। पहले जहाँ शक्ति मुख्यतः ब्राह्मणों के हाथों में केंद्रित थी, वहीं अब गैर-ब्राह्मण समूहों और स्थानीय नेताओं की भूमिका बढ़ी है। बेते ने यह स्पष्ट किया कि शक्ति की वास्तविक समझ उन अंतर्संबंधों के विश्लेषण से होती है, जो जाति, वर्ग, पंचायत और राजनीतिक दलों की सीमाओं से आगे तक फैले हुए हैं। इस प्रकार, शक्ति को केवल स्तरीकरण के रूप में नहीं, बल्कि राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के रूप में भी देखा जाना चाहिए।

वेबर का दृष्टिकोण : प्रस्थिति समूह

जाति को समझने के लिए आंद्रे बेते ने मैक्स वेबर की प्रस्थिति समूह (Status Group) की अवधारणा का भी प्रयोग किया। वेबर के अनुसार प्रस्थिति समूह सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान पर आधारित होते हैं और वे प्रायः समुदाय का निर्माण करते हैं।

श्रीपुरम गाँव में ब्राह्मण समुदाय को एक विशिष्ट प्रस्थिति समूह के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ सामाजिक प्रतिष्ठा धार्मिक आधार पर निर्धारित होती है। यद्यपि वर्ग के उदय से प्रस्थिति समूहों के भीतर परिवर्तन आया है, फिर भी सामाजिक सम्मान का निर्धारण आज भी काफी हद तक जाति के माध्यम से होता है। बेते का निष्कर्ष है कि भारतीय समाज में वर्ग के उभार के बावजूद प्रस्थिति समूहों की भूमिका समाप्त नहीं हुई है। इससे सामाजिक स्तरीकरण और अधिक जटिल हो गया है।

राजनीति, जाति और वर्ग

भारतीय राजनीति में जाति और वर्ग की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। श्रीपुरम गाँव के अध्ययन में बेते ने यह दिखाया कि राजनीतिक दलों के माध्यम से शक्ति संरचना में परिवर्तन आया है। परंपरागत रूप से ब्राह्मणों का राजनीतिक प्रभुत्व था, किंतु समय के साथ गैर-ब्राह्मणों, मुस्लिम और ईसाई समुदायों ने राजनीतिक संगठनों के माध्यम से शक्ति प्राप्त की। इस संदर्भ में जस्टिस पार्टी और द्रविड़ राजनीति का विशेष महत्व है। आगे चलकर डीएमके जैसी पार्टियों ने ब्राह्मण प्रभुत्व को चुनौती दी और गैर-ब्राह्मण राजनीति को सशक्त किया। वहीं दूसरी ओर, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में भी समय

के साथ नेतृत्व संरचना बदली। प्रारंभिक दौर में जहाँ ब्राह्मणों का प्रभाव अधिक था, वहीं स्वतंत्रता के बाद गैर-ब्राह्मण नेतृत्व उभरकर सामने आया।

पंचायत, लोकतंत्र और आधुनिकीकरण

पंचायती राज व्यवस्था ने ग्रामीण समाज में लोकतांत्रिक भागीदारी को बढ़ाया। बेते के अनुसार पंचायतें शक्ति के विकेंद्रीकरण का महत्वपूर्ण माध्यम हैं। इससे सामान्य व्यक्ति को भी सत्ता में भागीदारी का अवसर मिला। आधुनिकीकरण, शिक्षा, शहरीकरण और बाजार ने जाति-आधारित प्रभुत्व को कमजोर किया है। भूमि का बाजारीकरण, श्वेतपोश रोजगार और बाह्य संपर्कों ने वर्ग संरचना को अधिक गतिशील बना दिया है। किंतु बेते यह भी स्पष्ट करते हैं कि आधुनिकीकरण ने जाति को समाप्त नहीं किया, बल्कि उसे नए संदर्भों में ढाल दिया है।

11.6 सारांश

आंद्रे बेते की सैद्धांतिक विवेचना का सार यह है कि भारतीय समाज को समझने के लिए जाति, वर्ग और शक्ति को अलग-अलग नहीं, बल्कि परस्पर संबद्ध सामाजिक प्रक्रियाओं के रूप में देखना चाहिए। आधुनिक भारत में वर्ग और शक्ति की भूमिका बढ़ी है, किंतु जाति का महत्व पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। यही भारतीय समाज की विशिष्टता और जटिलता है। श्रीपुरम गाँव के अध्ययन के माध्यम से बेते ने यह स्पष्ट किया कि भारतीय ग्रामीण समाज न तो पूर्णतः परंपरागत है और न ही पूरी तरह आधुनिक। यहाँ परंपरा और आधुनिकता के बीच निरंतर अंतःसंघर्ष और समन्वय चलता रहता है। जाति आज भी सामाजिक प्रतिष्ठा और पहचान का महत्वपूर्ण आधार बनी हुई है, किंतु उसका स्वरूप पहले की तुलना में बदल गया है। वर्ग और शक्ति की बढ़ती भूमिका ने जाति-आधारित प्रभुत्व को चुनौती दी है, परंतु जाति का महत्व पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ है। बेते का एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह भी है कि आधुनिकीकरण—जिसमें शिक्षा, लोकतंत्र, बाजार, शहरीकरण और पंचायती राज व्यवस्था शामिल हैं—ने ग्रामीण समाज में नई संभावनाएँ और नई असमानताएँ दोनों उत्पन्न की हैं। भूमि का बाजारीकरण, श्वेतपोश रोजगार और बाह्य संपर्कों ने वर्ग संरचना को अधिक गतिशील बनाया है। इसके साथ ही, राजनीतिक दलों और पंचायतों ने शक्ति के वितरण को अपेक्षाकृत व्यापक बनाया है, जिससे सामान्य व्यक्ति की भागीदारी बढ़ी है। उनका योगदान आज भी भारतीय समाज में व्याप्त असमानताओं, सत्ता-संरचनाओं और सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए अत्यंत प्रासंगिक है।

11.8 बोध प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न 1 उत्तर: (B), बोध प्रश्न 2 उत्तर: (C)

11.9 संदर्भ ग्रंथ

दोषी, एस. एल. (2006). भारतीय समाजशास्त्रीय चिंतन. जयपुर: रावत पब्लिकेशन्स।

2. Beteille, Andre. Caste, Class and Power: Changing Patterns of Stratification in a Tanjore Village. Oxford University Press.

11.10 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

1 भारतीय सामाजिक विचारक, एस. एल. दोषी

2 भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी चिंतक, ओरियंट ब्लैकवॉन प्राइवेट लिमिटेड

11.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. श्रीपुरम गाँव के अध्ययन के आधार पर भारतीय ग्रामीण समाज की संरचना स्पष्ट कीजिए।

2. आंद्रे बेते के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का समालोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

इकाई-12

योगेन्द्र सिंह (Yogendra Singh)

इकाई की रूपरेखा

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 जीवन परिचय

12.3 प्रमुख कृतियाँ

12.4 योगेन्द्र सिंह का समाजशास्त्रीय योगदान

12.5 परंपरा और आधुनिकता

12.6 आधुनिकीकरण एवं सांस्कृतिक परम्पराओं में अन्तः जनित परिवर्तन

12.6 आधुनिकीकरण एवं सांस्कृतिक परम्पराओं में अन्तः जनित परिवर्तन

12.9 पश्चिमी प्रभाव और सांस्कृतिक आधुनिकीकरण

12.10 आधुनिकीकरण और सामाजिक संरचना में परिवर्तन

12.11 आधुनिकीकरण और सामाजिक संरचना में परिवर्तन

12.12 सारांश

12.13 बोध प्रश्न के उत्तर

12.14 संदर्भ ग्रंथ

10.15 निबन्धात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

भारतीय समाजशास्त्र के समकालीन विकास में योगेन्द्र सिंह का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे उन समाजशास्त्रियों में से हैं जिन्होंने भारतीय समाज को केवल परंपरागत या केवल आधुनिक दृष्टि से देखने के बजाय परंपरा और आधुनिकता

के समन्वय के रूप में समझने का प्रयास किया। उनका समाजशास्त्र सामाजिक परिवर्तन, आधुनिकीकरण, मूल्य-परिवर्तन तथा सामाजिक स्तरीकरण जैसे विषयों पर केंद्रित है।

योगेन्द्र सिंह का विशेष योगदान यह है कि उन्होंने पश्चिमी समाजशास्त्रीय सिद्धांतों को भारतीय सामाजिक यथार्थ के संदर्भ में आलोचनात्मक रूप से अपनाया। वे यह मानते थे कि भारतीय समाज की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विशिष्टताओं को ध्यान में रखे बिना समाजशास्त्र का विकास संभव नहीं है। उनके विचार भारतीय समाज को संतुलित, यथार्थवादी और विश्लेषणात्मक ढंग से समझने की दृष्टि प्रदान करते हैं।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आपके द्वारा संभव होगा-

- योगेन्द्र सिंह के जीवन-परिचय को जान पाएँगे।
- योगेन्द्र सिंह की प्रमुख कृतियों से परिचित हो पाएँगे।
- उनके समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को समझ पाएँगे।
- आधुनिकीकरण पर योगेन्द्र सिंह के विचारों को स्पष्ट कर पाएँगे।
- भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन के उनके विश्लेषण को समझ पाएँगे।
- समाजिक स्तरीकरण के संबंध में उनके विचारों की व्याख्या कर पाएँगे।

12.2 जीवन परिचय

प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह का जन्म 2 नवम्बर 1932 को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले में हुआ। उन्होंने समाजशास्त्र में उच्च शिक्षा प्राप्त की और लंबे समय तक विश्वविद्यालय स्तर पर अध्यापन तथा शोध कार्य से जुड़े रहे। उन्होंने अपनी स्नातकोत्तर और डॉक्टरेट की शिक्षा लखनऊ विश्वविद्यालय से प्राप्त की। अध्ययन के दौरान उन्हें राधाकमल मुकर्जी, डी. पी. मुकर्जी और डी. एन. मजूमदार जैसे प्रतिष्ठित समाजशास्त्रियों का मार्गदर्शन मिला। अपने अध्यापन कार्य की शुरुआत उन्होंने आगरा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज़ से प्रवक्ता के रूप में की। इसके बाद वे राजस्थान विश्वविद्यालय गए, जहाँ उन्होंने समाजशास्त्र विभाग की स्थापना में सक्रिय भूमिका निभाई। कुछ समय तक वे जोधपुर विश्वविद्यालय में भी प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत रहे।

सन् 1971 में प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह को जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली में सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ सोशल सिस्टम्स की स्थापना के लिए आमंत्रित किया गया। यहाँ वे लंबे समय तक प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष रहे। सेवानिवृत्ति के बाद उन्हें प्रोफेसर एमेरिटस ऑफ़ सोशियोलॉजी का सम्मान प्रदान किया गया। उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र को

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाने में अपना योगदान दिया। उनका लेखन विशेष रूप से उत्तर-औपनिवेशिक भारत की सामाजिक संरचना और मूल्य-परिवर्तन की प्रक्रिया को समझने में सहायक रहा है। अपने अकादमिक जीवन में प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह को अनेक सम्मान प्राप्त हुए। वे इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी के अध्यक्ष रहे और वर्ष 2007 में उन्हें लाइफ टाइम अचीवमेंट अवॉर्ड से सम्मानित किया गया। इसके अतिरिक्त उन्हें फुलब्राइट फ़ेलोशिप भी प्राप्त हुई और उन्होंने उन्होंने विदेशों में विज़िटिंग प्रोफेसर के रूप में अध्यापन किया। वे भारतीय समाजशास्त्र के उन विद्वानों में गिने जाते हैं जिन्होंने स्वतंत्रता के बाद भारतीय समाज में होने वाले सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का गहन अध्ययन किया। दिनांक 10 मई 2020 को उनका निधन हो गया।

अपने सरल स्वभाव, गहन विद्वता और महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय योगदान के कारण प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह को भारतीय समाजशास्त्र के विकास का एक प्रमुख मार्गदर्शक माना जाता है।

12.3 प्रमुख कृतियाँ

प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह की प्रमुख कृतियाँ निम्नलिखित हैं, जिन्हें भारतीय समाजशास्त्र में अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है—

- टुवर्ड्स अ सोशियोलॉजी ऑफ़ कल्चर इन इंडिया (को-एडिटर) (1965)
- फ़ॉर अ सोशियोलॉजी ऑफ़ इंडिया (को-एडिटर), प्रिंटिस हॉल ऑफ़ इंडिया (1967)
- सोशियोलॉजी ऑफ़ नॉन-वायलेंस एंड पीस (को-ऑथर) (1968)
- मॉडर्नाइज़ेशन ऑफ़ इंडियन ट्रेडिशन: अ सिस्टेमैटिक स्टडी ऑफ़ सोशल चेंज (1973)
- ट्रेडिशन्स ऑफ़ नॉन-वायलेंस : टी. के. उन्निथान एवं योगेन्द्र सिंह, अर्नोल्ड हाइनमैन (1973)
- एस्सेज़ ऑन मॉडर्नाइज़ेशन इन इंडिया (1977)
- सोशल स्ट्रैटिफ़िकेशन एंड सोशल चेंज इन इंडिया (1978)
- सोशल एस्पेक्ट्स ऑफ़ साइंटिफ़िक एंड टेक्नोलॉजिकल रिवॉल्यूशन : योगेन्द्र सिंह एवं राल्फ़ डारेनडॉर्फ़ (1978)
- इमेज ऑफ़ मैन: आइडियोलॉजी एंड थ्योरी इन इंडियन सोशियोलॉजी (1984)
- इंडियन सोशियोलॉजी: सोशल कंडीशनिंग एंड इमर्जिंग कन्सर्न्स (1987)
- द सोशियोलॉजी ऑफ़ कल्चर : योगेन्द्र सिंह एवं बोरिस एरासोव (1991)
- सोशल चेंज इन इंडिया: क्राइसिस एंड रेज़िलिएन्स (1993)

- कल्चर चेंज इन इंडिया: आइडेंटिटी एंड ग्लोबलाइज़ेशन (2000)
- आइडियोलॉजी एंड थ्योरी इन इंडियन सोशियोलॉजी (2004)

12.4 योगेन्द्र सिंह का समाजशास्त्रीय योगदान

योगेन्द्र सिंह भारतीय समाजशास्त्र के एक प्रमुख आधुनिक विचारक हैं। उन्होंने भारतीय समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनके विचारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने लेखन में मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र या राजनीतिशास्त्र की अवधारणाओं को मिलाकर समाजशास्त्र की व्याख्या नहीं करते। वे मूल रूप से एक विशुद्ध समाजशास्त्री रहे हैं। हालाँकि, जब उन्होंने सामाजिक स्तरीकरण, भारतीय समाज में परिवर्तन और आधुनिकीकरण जैसी अवधारणाओं का अध्ययन किया, तो उन्होंने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया। भारतीय समाज के अध्ययन में प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह ने पाँच प्रमुख विषयों पर विशेष ध्यान दिया—

1. आधुनिकीकरण
2. सामाजिक स्तरीकरण
3. भारतीय समाजशास्त्र
4. सामाजिक परिवर्तन
5. भारत में सांस्कृतिक परिवर्तन

प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह ने अनेक पुस्तकें और लेख लिखे, लेकिन उन्हें सबसे अधिक प्रसिद्धि उनकी पुस्तक ''मॉडर्नाइज़ेशन ऑफ़ इंडियन ट्रेडिशन: अ सिस्टेमैटिक स्टडी ऑफ़ सोशल चेंज'' से मिली। इस पुस्तक में उन्होंने भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तनों का क्रमबद्ध और वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन किया है।

उनके अनुसार भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए कुछ प्रमुख प्रक्रियाएँ जिम्मेदार हैं। जिनमें संस्कृतिकरण, इस्लामीकरण और पश्चिमीकरण प्रमुख हैं। सामान्य रूप से ये प्रक्रियाएँ अलग-अलग प्रभाव डालती हैं और एक-दूसरे की पूरक नहीं लगतीं है। लेकिन प्रकार्यवादी दृष्टि से देखने पर ये प्रक्रियाएँ एक-दूसरे की सहायता करती दिखाई देती हैं।

प्रोफेसर सिंह का मानना है कि इन प्रक्रियाओं से भारत में कोई अचानक या संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हुआ, बल्कि क्रमिक (उद्विकासीय) परिवर्तन हुआ। ऐसे परिवर्तन में भूतकाल, वर्तमान और भविष्य के बीच एक निरंतर संबंध बना रहता है। इसलिए सामाजिक परिवर्तन की दिशा एकरेखीय नहीं, बल्कि बहुरेखीय होती है और समाज में कई प्रकार के परिवर्तन दिखाई देते हैं।

अपनी पुस्तक "सोशल स्ट्रैटिफ़िकेशन एंड सोशल चेंज इन इंडिया" में प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह ने बताया है कि समाज में धन, संपत्ति, शक्ति, सत्ता और सम्मान का वितरण समान नहीं होता, बल्कि यह असमान होते हुए भी एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार होता है। इस संदर्भ में उन्होंने भारतीय जाति-प्रथा और वर्ग-प्रथा का भी अध्ययन किया है।

इसी प्रकार उनकी पुस्तक "इंडियन सोशियोलॉजी: सोशल कंडीशनिंग एंड इमर्जिंग कन्सर्न्स" में भारतीय समाजशास्त्र की आधुनिक प्रवृत्तियों और विचारधाराओं का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। यह पुस्तक भारतीय समाजशास्त्र को समझने में अत्यंत उपयोगी है।

योगेन्द्र सिंह की विचारधारा को किसी एक सैद्धान्तिक खाँचे में सीमित नहीं किया जा सकता। उनका दृष्टिकोण प्रकार्यवादी, समाजवादी, नेहरूवादी मूल्य, ऐतिहासिक समाजशास्त्र तथा द्वन्द्वात्मक विश्लेषण है। इनके अध्ययन में इन सभी का समन्वय दिखाई देता है। उन्होंने आर. के. मर्टन, टी. पारसन्स, लीच, नाडेल और एल. अल्यूसर जैसे संरचनावादी तथा संरचनावादी-मार्क्सवादी विचारकों की आलोचना की और कहा कि इन सिद्धान्तों में ऐतिहासिकता का अभाव है। उनके अनुसार भारतीय समाज को समझने के लिए उसके ऐतिहासिक विकासक्रम को अनदेखा नहीं किया जा सकता।अत: कहा जा सकता है कि प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह का समाजशास्त्रीय विश्लेषण भारतीय समाजशास्त्र के विकास के लिए एक मजबूत आधार प्रदान करता है।

12.5 परंपरा और आधुनिकता

उनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है "मॉडर्नाइज़ेशन ऑफ़ इंडियन ट्रेडिशन: अ सिस्टेमैटिक स्टडी ऑफ़ सोशल चेंज" इसमें उन्होंने कहा कि भारत में आधुनिकीकरण का मतलब पश्चिमी बनना नहीं है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें परंपराएँ बदलते समय भी समाज में बनी रहती हैं और आधुनिक मूल्यों के साथ तालमेल बिठाती हैं। उदाहरण के लिए, आज भी परिवार प्रणाली भारतीय समाज में मौजूद है, लेकिन उसके स्वरूप और भूमिकाएँ पहले से अलग हो गई हैं। प्रो. योगेन्द्र सिंह ने भारत में आधुनिकीकरण की व्याख्या में उद्विकासीय ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के माध्यम से की है। डॉ. सिंह के अनुसार भारतीय परम्परा के अनेकानेक स्रोत हैं, जो केवल धार्मिक या सांस्कृतिक ही नहीं, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों से भी संबद्ध हैं। ये सभी स्रोत सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। भारतीय परम्परा स्थिर नहीं, बल्कि गतिशील है और समय के अनुसार स्वयं को अनुकूलित करती रहती है। इस दृष्टिकोण में परम्परा और आधुनिकता परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूरक हैं। भारतीय परम्परा स्थिर या जड़ नहीं है, बल्कि वह ऐसे मूल्यों से युक्त है जो समय और परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को अनुकूलित करती रहती है। भारतीय परम्परा इन मूल्यों की केवल रक्षा ही नहीं करती, बल्कि उनकी प्रासंगिकता का पुनर्परिभाषण भी करती है। इसी प्रक्रिया के माध्यम से परम्परा आधुनिकता के संपर्क में आकर नए रूप ग्रहण करती है। योगेन्द्र सिंह की यह विचारधारा मूलतः गतिशील है, क्योंकि वे सामाजिक परिवर्तन को एक सतत प्रक्रिया के रूप में देखते हैं। यह दृष्टिकोण प्रकार्यवादी भी है, क्योंकि परम्परागत संस्थाओं को वे सामाजिक व्यवस्था के संचालन में उपयोगी मानते हैं। साथ ही,

इसमें समाजवादी दृष्टि के तत्व भी निहित हैं, क्योंकि वे असमानता, वर्ग, सत्ता और संसाधनों के वितरण को नज़रअंदाज़ नहीं करते। डॉ. सिंह की सोच पर नेहरूवादी विचारधारा एवं उनका विश्लेषण ऐतिहासिक समाजशास्त्र की परंपरा से जुड़ा हुआ है, क्योंकि वे भारतीय समाज को उसकी ऐतिहासिक निरंतरता और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के बिना नहीं समझते।

प्रो. योगेन्द्र सिंह ने अपनी प्रसिद्ध कृति मॉडर्नाइज़ेशन ऑफ़ इंडियन ट्रेडिशन में भारतीय समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए अपने विचारों को पाँच प्रमुख संभागों में विभाजित किया है। इन संभागों के माध्यम से वे यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय परम्परा और आधुनिकता के बीच सम्बन्ध किस प्रकार क्रमिक, ऐतिहासिक तथा बहुआयामी रहा है। ये पाँच संभाग निम्नलिखित हैं—

- आधुनिकीकरण एवं सांस्कृतिक परम्पराओं में अन्तः जनित परिवर्तन
- इस्लाम का प्रभाव और आधुनिकीकरण
- पश्चिमी प्रभाव और सांस्कृतिक आधुनिकीकरण
- आधुनिकीकरण और सामाजिक संरचना में परिवर्तन : मैक्रो संरचनात्मक परिवर्तन
- आधुनिकीकरण और सामाजिक संरचना में परिवर्तन : माइक्रो संरचनात्मक परिवर्तन

इन पाँचों संभागों के माध्यम से योगेन्द्र सिंह यह प्रतिपादित करते हैं कि भारत में आधुनिकीकरण न तो परम्परा का पूर्ण निषेध है और न ही केवल बाह्य प्रभावों का परिणाम, बल्कि यह परम्परा और आधुनिकता के बीच चलने वाली एक सतत ऐतिहासिक प्रक्रिया है।

12.6 आधुनिकीकरण एवं सांस्कृतिक परम्पराओं में अन्तः जनित परिवर्तन

प्रो. योगेन्द्र सिंह के अनुसार भारतीय समाज की एकता का आधार उसकी सांस्कृतिक निरन्तरता रही है। यह निरन्तरता भारतीय समाज की आन्तरिक संरचना को पहचान प्रदान करती है, जो मुख्यतः धार्मिक सिद्धान्तों, नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक परम्पराओं में निहित है। भारतीय एकता स्थिर नहीं रही, बल्कि समय के साथ गतिशील बनी रही।

योगेन्द्र सिंह मानते हैं कि भारतीय संस्कृति के अनेक स्रोत हैं। कुछ स्रोत अन्तः जनित हैं, जो आन्तरिक बहुलवाद से विकसित हुए, जबकि कुछ स्रोत बाह्य जनित हैं, जो इस्लाम और अंग्रेजी संस्कृति के सम्पर्क से उत्पन्न हुए। सांस्कृतिक जागरण को संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, सामाजिक समानता, धर्मनिरपेक्षता और आधुनिकीकरण जैसी प्रक्रियाओं के माध्यम से समझा जा सकता है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति में व्यवस्था और परिवर्तन दोनों एक साथ विद्यमान रहते हैं। सामाजिक संस्तरण भारतीय समाज की एकता को स्पष्ट करता है। कर्म, जन्म और पुनर्जन्म की अवधारणाएँ सामाजिक स्तरीकरण को धार्मिक वैधता प्रदान करती हैं और समाज में स्थिरता तथा सीमित परिवर्तन दोनों को संभव बनाती हैं।

भारतीय संस्कृति के तीन प्रमुख मूल्य धर्म, अर्थ और काम यह दर्शाते हैं कि भारतीय समाज में स्तरीकरण और बहुलवाद दोनों पाए जाते हैं। भौतिक मूल्यों की तुलना में धार्मिक मूल्यों को अधिक महत्व दिया गया। योगेन्द्र सिंह के अनुसार प्रमुख अन्तः जनित परिवर्तन सामाजिक संस्तरण की मूल संरचना को सुदृढ़ करने के रूप में दिखाई देता है। अन्तः जनित सांस्कृतिक परम्परा का मुख्य आधार हिन्दू धर्म रहा है, जो केवल एक धार्मिक व्यवस्था नहीं, बल्कि एक जीवन-शैली का प्रतिनिधित्व करता है। वैदिक साहित्य, महाकाव्य, धार्मिक-नैतिक मूल्य और आचार-मापदण्ड भारतीय संस्कृति के आन्तरिक परिवर्तन के आधार बने। समय-समय पर इनमें नवाचार और जुड़ाव होते रहे, जिससे परम्परा गतिशील बनी रही।

भारतीय संस्कृति में परिवर्तन को समझने के लिए लघु और वृहद परम्पराओं की अवधारणा महत्त्वपूर्ण है। लघु परम्पराएँ जनसामान्य और ग्रामीण जीवन से जुड़ी होती हैं, जबकि वृहद परम्पराएँ शास्त्रीय और अभिजन संस्कृति से सम्बन्धित होती हैं। इन दोनों के बीच निरन्तर अन्तःक्रिया से सांस्कृतिक परिवर्तन होता है। लघु परम्पराओं में अन्तः जनित परिवर्तन को समझाने के लिए संस्कृतिकरण को एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया माना गया है। यह प्रक्रिया सामाजिक गतिशीलता को बढ़ाती है, किन्तु संरचनात्मक परिवर्तन नहीं लाती। योगेन्द्र सिंह के अनुसार संस्कृतिकरण और आधुनिकीकरण के बीच एक अप्रत्यक्ष और आंशिक रूप से सकारात्मक सम्बन्ध पाया जाता है।

जैन, बौद्ध और सिख धर्मों ने भी विभेदीकरण के माध्यम से भारतीय संस्कृति में आन्तरिक परिवर्तन किए। इन आंदोलनों ने जातीय स्तरीकरण को लचीला बनाया, परन्तु जाति व्यवस्था को पूर्णतः समाप्त नहीं कर सके। भक्ति आन्दोलन और समाज सुधार आंदोलनों ने भी सांस्कृतिक परिवर्तन को गति दी, परन्तु संस्थागत स्तरीकरण की निरन्तरता बनी रही।

इस प्रकार, भारतीय समाज में आधुनिकीकरण परम्परा का विनाश नहीं, बल्कि परम्परा के भीतर से उत्पन्न होने वाला अन्तः जनित, क्रमिक और अनुकूलनशील परिवर्तन है।

12.8 इस्लाम का प्रभाव और आधुनिकीकरण

योगेन्द्र सिंह ने इस भाग में भारतीय समाज और संस्कृति पर इस्लामी परम्परा के प्रभाव तथा उससे उत्पन्न सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों का विश्लेषण किया गया है। अन्तः जनित परिवर्तनों के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों और मानवशास्त्रियों ने विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक परिप्रेक्ष्य, मैक्स वेबर द्वारा प्रोटेस्टेंट नीतियों के माध्यम से संस्थागत मूल्यों में परिवर्तन की व्याख्या तथा सोरोकिन–क्रोबर के संस्कृति-परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्त, सभी अन्तः जनित स्रोतों को स्पष्ट करते हैं। दुर्खीम ने भी जनसंख्या वृद्धि को गतिशील परिवर्तन का स्रोत मानते हुए श्रम-विभाजन की व्याख्या की है। टॉयनबी के अनुसार ऐसे परिवर्तन "चुनौती और प्रत्युत्तर" की प्रक्रिया का परिणाम होते हैं, जो सांस्कृतिक सम्पर्कों से उत्पन्न होते हैं।

भारत में बाह्य सांस्कृतिक सम्पर्कों के माध्यम से सार्वभौमिक मानवीय मूल्य, समानता, विवेकशीलता और धर्मनिरपेक्षता का विकास हुआ, जो आधुनिकीकरण प्रक्रिया के प्रतिफल को दर्शाता है। प्रो. योगेन्द्र सिंह के अनुसार आधुनिकीकरण

का अर्थ एक विवेकशील और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से है। इस्लामी संस्कृति के सम्पर्क से भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए, जिन्हें योगेन्द्र सिंह ने दो सन्दर्भों में समझाया है। पहले वे परिवर्तन जो संस्कृति-संक्रमण को बढ़ावा देते हैं और दूसरे वे जो परिवर्तित मूल्यों, रीतिरिवाजों और संस्थागत प्रतिमानों को समन्वित करते हैं।

भारतीय संस्कृति का विकास वैदिक काल से हुआ है और इसका सम्पर्क दो प्रमुख बाह्य संस्कृतियों इस्लामी संस्कृति और ब्रिटिश संस्कृति से हुआ। इस प्रकार भारतीय संस्कृति पर इस्लामीकरण, पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण तीनों का प्रभाव पड़ा है। जिनमें आधुनिकीकरण सर्वाधिक प्रभावी रहा है। योगेन्द्र सिंह के अनुसार भारतीय संस्कृति में परिवर्तन के लिए संस्कृतिकरण, इस्लामीकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण तथा वैश्वीकरण ये पाँच प्रमुख शक्तियाँ उत्तरदायी हैं। इसमें संस्कृतिकरण आन्तरिक शक्ति व शेष बाह्य शक्तियाँ हैं।

इस्लामिक परम्परा हिन्दू वृहद परम्परा से भिन्न है, क्योंकि यह समानता, ऐकेश्वरवाद और गैर-संस्तरणीय सिद्धान्तों पर आधारित है। इस्लाम में धर्म की ऐतिहासिकता पर विशेष बल दिया गया है। विल्फ्रेड कान्टवैल स्मिथ के अनुसार हिन्दू, ईसाई, मुस्लिम और मार्क्सवादी ये चारों इतिहास को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझते हैं। योगेन्द्र सिंह का मत है कि इस्लाम में समग्रता और सामूहिकता का सिद्धान्त अधिक विकसित है। भारत के सम्पर्क में आने से इस्लामी संस्कृति में भी जातीय संस्तरण के तत्व विकसित हुए। जिससे स्पष्ट होता है कि इस्लाम में भी अन्तः जनित सांस्कृतिक परिवर्तन हुए हैं। भारत में इस्लाम का आगमन आठवीं सदी में हुआ और इसके साथ हिन्दू–इस्लामी संस्कृति के बीच द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध विकसित हुए। मुगल काल, ब्रिटिश शासन और राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान यह सम्बन्ध परिवर्तित होता रहा। सूफी परम्परा ने इस्लाम को भारत में लोकप्रिय बनाया क्योंकि उसने भक्ति, सहिष्णुता और सरल आस्था पर बल दिया।

ब्रिटिश शासन के दौरान मुस्लिम समाज की राजनीतिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति में गिरावट आई। उन्नीसवीं सदी में मुस्लिम समाज में उदारवादी और कट्टरवादी ये दो विचारधाराएँ उभरीं। जो राष्ट्रीय आन्दोलन में भी सक्रिय रहीं। योगेन्द्र सिंह के अनुसार ब्रिटिश विजय का नकारात्मक प्रभाव हिन्दू अभिजात वर्ग की अपेक्षा मुस्लिमों पर अधिक पड़ा।

योगेन्द्र सिंह का मत है कि इस्लामीकरण और संस्कृतिकरण दोनों प्रक्रियाओं में समानता पाई जाती है, क्योंकि दोनों में ही उच्च प्रस्थिति वाले समूह की संस्कृति और जीवन-शैली को अपनाने का प्रयास किया जाता है। वर्तमान में दोनों सम्प्रदायों हिन्दू और मुस्लिम में आन्तरिक संघर्ष विद्यमान है। इस्लामिक परम्परा सांस्कृतिक आधुनिकीकरण के मार्ग में कभी-कभी बाधा उत्पन्न करती है, फिर भी यह सत्य है कि इस्लामी संस्कृति भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर परिवर्तित हुई है। इसके बावजूद दोनों संस्कृतियों की अपनी विशिष्ट पहचान समाज में बनी हुई है।

12.9 पश्चिमी प्रभाव और सांस्कृतिक आधुनिकीकरण

सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों का आपसी सम्पर्क एक पूर्व–आधुनिक (Pre-modern) स्वरूप का था, जबकि पश्चिमी संस्कृति के साथ भारत का सम्पर्क क्रान्तिकारी (Radical) सिद्ध हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से यह सम्पर्क एक पारम्परिक सांस्कृतिक व्यवस्था और एक आधुनिकीकरण की ओर बढ़ती हुई सांस्कृतिक व्यवस्था के बीच हुआ।

योगेन्द्र सिंह के अनुसार पश्चिमी प्रभाव से पूर्व ही भारतीय संस्कृति की मूल्य-व्यवस्था उदारवादी, समतावादी और मानवतावादी बनने लगी थी। तर्कवाद, समानता और स्वतन्त्रता जैसे मूल्यों के प्रति विश्वास ने भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में एक नए युग का सूत्रपात किया। पश्चिमी प्रभाव के परिणामस्वरूप भारत में वैधानिक विवेकीकरण, बाजार व्यवस्था और आधुनिक कानून प्रणाली का विकास हुआ। पश्चिमी सभ्यता व्यक्तिवाद और संविदा के सिद्धान्त पर आधारित थी, जिसने सामाजिक समानता और सार्वभौमिकता को बढ़ावा दिया।

पश्चिमी प्रभाव के कारण भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली, संचार व्यवस्था, नौकरशाही, आधुनिक सेना तथा नवीन प्रशासनिक संस्थाओं का विकास हुआ। इसके साथ ही एक नया मध्यम वर्ग और वृहद परम्परा में एक नवीन बौद्धिक वर्ग उभरा। योगेन्द्र सिंह ने वृहद परम्परा में होने वाले इन परिवर्तनों को ही सांस्कृतिक आधुनिकीकरण कहा है। यह परिवर्तन जीवन-शैली, वेशभूषा, रहन-सहन, विज्ञान और तकनीक सभी क्षेत्रों में दिखाई देता है।

एम. एन. श्रीनिवास के अनुसार पश्चिमीकरण अपेक्षाकृत सरल अवधारणा है, जिसमें ब्रिटिश शासन के दौरान तकनीक, संस्थाओं, विचारधाराओं और मूल्यों में हुए परिवर्तन सम्मिलित हैं। मानवतावाद और तार्किकता पश्चिमीकरण के प्रमुख तत्व रहे, जिनके परिणामस्वरूप सामाजिक और संस्थागत सुधार संभव हुए। शिक्षा, विज्ञान, राष्ट्रवाद, नई राजनीतिक संस्कृति और नेतृत्व—ये सभी पश्चिमीकरण के उप–उत्पाद रहे। योगेन्द्र सिंह का मत है कि पश्चिमीकरण के प्रभाव से भारतीय समाज में परिवर्तन आंशिक रहा, क्योंकि हिन्दू और इस्लामी परम्पराएँ पहले से ही अनुकूलनशील थीं। राजा राममोहन राय, ब्रह्म समाज, आर्य समाज और प्रार्थना समाज जैसे सुधार आन्दोलनों ने भारतीय समाज को आधुनिक मूल्यों की ओर उन्मुख किया। सती प्रथा का उन्मूलन, विधवा विवाह अधिनियम और समानता आधारित कानून इसी प्रक्रिया के उदाहरण हैं। आधुनिक शिक्षा के क्षेत्र में भी पश्चिमी प्रभाव निर्णायक रहा। आधुनिक शिक्षा उदारवादी, वैज्ञानिक और विवेकशील दृष्टिकोण पर आधारित थी। इसके माध्यम से समानता, स्वतंत्रता और मानवतावाद जैसे मूल्यों का प्रसार हुआ। योगेन्द्र सिंह के अनुसार परम्परागत शिक्षा और आधुनिक शिक्षा के बीच द्वन्द्व की स्थिति से ही नई सामाजिक चेतना विकसित हुई। पश्चिमी प्रभाव से नगरीकरण, औद्योगीकरण, संचार और यातायात के साधनों का विकास हुआ। नए शब्द, नई तकनीकें और नए प्रशासनिक ढाँचे भारतीय समाज का हिस्सा बने। इसी आधार पर योगेन्द्र सिंह ने कहा है कि आधुनिकीकरण परम्परा की तुलना में अधिक लचीली और खुली प्रक्रिया है।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पश्चिमी प्रभाव ने भारतीय संस्कृति में सांस्कृतिक आधुनिकीकरण को गति दी, परन्तु इस प्रक्रिया में परम्परा का पूर्ण निषेध नहीं हुआ। भारतीय समाज में परम्परा और आधुनिकीकरण एक-दूसरे के पूरक बनकर विकसित हुए।

12.10 आधुनिकीकरण और सामाजिक संरचना में परिवर्तन

योगेन्द्र सिंह के अनुसार मैक्रो संरचनात्मक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक संरचना में होने वाला वह व्यापक परिवर्तन है, जिसमें संरचनात्मक विभेदीकरण और भूमिकाओं का आन्तरिक विशेषीकरण विकसित होता है। परम्परागत समाज में राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक और सांस्कृतिक संस्थाएँ परम्परा-आधारित थीं, परन्तु राजनीतिक क्रान्ति और औद्योगीकरण के प्रभाव से इनके स्वरूप में परिवर्तन आया।

औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप कृषि-आधारित व्यवस्था कमजोर हुई और बाजार व्यवस्था, विवेकशीलता, आधुनिक कानून, नौकरशाही, तकनीकी शक्ति तथा लोकतान्त्रिक मूल्यों का विकास हुआ। इस प्रक्रिया में नई भूमिका-संरचनाएँ उभरीं, जैसे—औद्योगिक श्रमिक, फैक्टरी प्रणाली, वित्तीय एवं तकनीकी नौकरशाही तथा आधुनिक बाजार। इससे सामाजिक सम्बन्धों और मूल्यों में भी परिवर्तन आया। योगेन्द्र सिंह के अनुसार बाजारीकरण और नौकरशाही के विस्तार से परिवार के प्रकार्यों में परिवर्तन हुआ। अनेक पारम्परिक कार्य अन्य संस्थाओं द्वारा ग्रहण कर लिए गए। सामाजिक नियन्त्रण की प्रकृति बदली और राज्य एक प्रमुख नियन्त्रणकारी संस्था के रूप में उभरा। परम्परागत सत्ता के स्थान पर विवेकशील सत्ता का विकास हुआ। योगेन्द्र सिंह ने सामाजिक संरचना को मैक्रो और माइक्रो स्तर में समझाया है। मैक्रो स्तर पर लोकतान्त्रिक व्यवस्था के विस्तार से नेतृत्व में परिवर्तन आया। जाति-आधारित प्रभुत्व को लोकतान्त्रिक मूल्यों, समानता और मानवाधिकारों के माध्यम से चुनौती मिलने लगी। सामन्ती सत्ता का पतन हुआ और वंशानुगत अधिकारों का स्थान वैधानिक–लोकतान्त्रिक अधिकारों ने लिया। मुगल काल में सामन्ती व्यवस्था सुदृढ़ रही, किन्तु उसके पतन के बाद विवेकशील लोकतन्त्र का उदय हुआ। ब्रिटिश शासन के दौरान आधुनिक शिक्षा से एक नया राष्ट्रवादी और बौद्धिक अभिजात वर्ग विकसित हुआ, जिसने भारतीय परम्परा से जुड़ाव बनाए रखते हुए आधुनिक विचारधाराओं को अपनाया। स्वतंत्रता के बाद इस अभिजात वर्ग के मूल्यों में सामाजिक समानता और मानवतावाद को विशेष महत्व मिला। आधुनिकीकरण के साथ एक नवीन नौकरशाही वर्ग भी विकसित हुआ, जो लिखित नियमों और विवेकशील प्रशासन पर आधारित था, परन्तु सामाजिक और पारिवारिक स्तर पर परम्पराओं से पूर्णतः अलग नहीं हो सका। औद्योगीकरण के कारण प्रवजन, नगरीकरण और व्यावसायिक वर्ग का विस्तार हुआ। इसके साथ ही शहरी समस्याएँ भी उत्पन्न हुईं। योगेन्द्र सिंह के अनुसार स्वतंत्रता के बाद नगरीकरण का प्रमुख उद्देश्य आर्थिक विकास रहा, जिसके परिणामस्वरूप शहरीकरण में निरन्तर वृद्धि हुई। यद्यपि आधुनिक लोकतन्त्र में जनता की भागीदारी बढ़ी, फिर भी यह क्षेत्रीय और सामुदायिक चेतना से प्रभावित रही।

अतः कहा जा सकता है कि भारत में मैक्रो संरचनात्मक परिवर्तन एक ऐतिहासिक, द्वन्द्वात्मक और निरन्तर प्रक्रिया है, जिसमें परम्परा और आधुनिकीकरण के बीच टकराव के स्थान पर संवाद और समन्वय दिखाई देता है।

12.11 आधुनिकीकरण और सामाजिक संरचना में परिवर्तन

योगेन्द्र सिंह के अनुसार वृहद् (मैक्रो) संरचनात्मक परिवर्तनों का प्रभाव लघु सामाजिक संरचनाओं पर भी पड़ता है। इसी कारण माइक्रो–संरचनाओं में परिवर्तन मुख्यतः दो संदर्भों में घटित होते हैं।

1 समाज की वृहद् संरचनाओं में हुए परिवर्तनों के विस्तार के परिणामस्वरूप औद्योगीकरण, राजनीतिकरण, नौकरशाहीकरण तथा नगरीकरण।

2 समाज के भीतर विद्यमान अन्तः जनित शक्तियों के कारण। इन परिवर्तनों के अंतर्गत परिवार, जाति और ग्राम समुदाय को सम्मिलित किया जाता है।

जाति के अध्ययन में इसे सामान्यतः व्यावहारिक सैद्धान्तिक स्तरों पर समझा जाता है। जाति, वर्ण-व्यवस्था में निहित है जिसमें चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र माने गए हैं, तथा अछूतों को पाँचवाँ वर्ण माना गया। वर्ण को मैक्रो संरचना, जबकि जाति को माइक्रो संरचना के रूप में देखा जाता है। इस माइक्रो संरचनात्मक इकाई में समय के साथ अनेक परिवर्तन हुए हैं। योगेन्द्र सिंह के अनुसार, "जातियाँ अब अनेक क्षेत्रीय अन्तः-विवाही समूहों में विभाजित हो चुकी हैं।"[1]

विभिन्न अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि जाति की संरचना और उसके प्रकार्य क्षेत्रानुसार बदलते रहते हैं। सामान्यतः ब्राह्मण और शूद्र जातियों की प्रस्थिति अपेक्षाकृत स्थिर रहती है, जबकि क्षत्रिय और वैश्य जातियों की स्थिति स्थानीय परिस्थितियों पर निर्भर करती है। आधुनिक प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में जाति एक राजनीतिक संस्था, आर्थिक हित-समूह और वर्गीय संगठन में परिवर्तित हो चुकी है। प्रत्येक जाति की अपनी भाषा, कर्मकाण्ड, देवता, नाम और वेश-भूषा होती है। इस प्रकार जातियाँ भारतीय समाज की लघु परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं, जबकि वर्ण व्यवस्था वृहद् परम्परा का सांस्कृतिक ढाँचा प्रदान करती है।

वैदिक काल से ही जाति व्यवस्था में परिवर्तन होते रहे हैं, किन्तु मुगल काल, ब्रिटिश शासन और स्वतंत्रता के बाद इन परिवर्तनों की गति तेज हुई। इन परिवर्तनों का मुख्य कारण आर्थिक और राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति रहा है। आज जाति राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का एक प्रभावी माध्यम बन चुकी है। पाणिक्कर के अनुसार नवीन आर्थिक और राजनीतिक अवसरों के माध्यम से निम्न जातियाँ उच्च जातियों के समकक्ष आने का प्रयास कर रही हैं, जिससे जातिगत सोपानक्रम में आरोहण स्पष्ट होता है।[2]

परम्परागत भारत में धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दो स्तरों पर विद्यमान थी धार्मिक स्तर पर ब्राह्मणों का वर्चस्व था, जबकि धर्मनिरपेक्ष सत्ता राजा के पास थी। शक्ति के क्षेत्र में कई बार क्षत्रिय ब्राह्मणों से अधिक प्रभावशाली रहे। योगेन्द्र सिंह ने बैडेलमेन द्वारा किए गए ग्राम अध्ययनों के आधार पर यह स्पष्ट किया कि अनेक क्षेत्रों में ब्राह्मण, जाट या ठाकुर जैसी प्रभुत्व जातियों के अधीन पाए जाते हैं। इस स्थिति को एम. एन. श्रीनिवास की प्रभुत्व जाति अवधारणा से समझा जा सकता है।

दक्षिण भारत सहित देश के विभिन्न भागों में भूमि स्वामित्व और राजनीतिक शक्ति के आधार पर अलग-अलग जातियाँ प्रभुत्वशाली बनीं। वर्तमान लोकतान्त्रिक परिवेश में निम्न जातियाँ भी राजनीतिक शक्ति के माध्यम से वर्चस्व स्थापित कर रही हैं। इससे जातियों के मध्य शक्ति-संघर्ष निरन्तर बढ़ रहा है। रूडोल्फ के अनुसार जाति समूहों की सक्रियता राज्य

स्तर पर अधिक दिखाई देती है, जबकि राष्ट्र स्तर पर राजनीतिक विचारधाराएँ और धर्म सामाजिक संरचना में स्थिरता बनाए रखते हैं। जाति के धार्मिक स्तरीकरण में अपेक्षाकृत स्थिरता पाई जाती है और उसमें होने वाला परिवर्तन प्रायः उद्विकासीय स्वरूप परिवार समाज की एक प्रमुख इकाई है और वह भी परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है। आधुनिक शिक्षा, रोजगार, बाजार व्यवस्था और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने परिवार के स्वरूप और प्रकार्यों को प्रभावित किया है। यद्यपि संयुक्त परिवार व्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन आए हैं, फिर भी भावनात्मक एकता, क्रिया की एकता और उद्देश्य की एकता के कारण संयुक्त परिवार आज भी भारत में विद्यमान हैं। औपनिवेशिक काल में महिलाओं की स्थिति दयनीय थी, परन्तु स्वतंत्रता के बाद शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक सहभागिता के माध्यम से महिलाओं की स्थिति में निरन्तर सुधार हुआ है। आज महिलाएँ प्रशासन, राजनीति और सहकारी क्षेत्रों में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं।

भारत ग्राम-प्रधान समाज है, इसलिए ग्रामीण अस्मिता अब भी बनी हुई है। आर्थिक बाजारीकरण, भूमि सुधार और लोकतान्त्रिक राजनीति के प्रभाव से गाँवों में आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए हैं तथा नया ग्रामीण नेतृत्व उभरा है। इसके बावजूद ग्रामीण समाज में लघु संस्कृति और पारम्परिक एकता बनी हुई है।

भारत में माइक्रो–संरचनात्मक स्तर पर आधुनिकीकरण के प्रभाव से जाति, परिवार और ग्राम समुदाय में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। परम्परागत भूमिका-संरचनाएँ कमजोर हुई हैं, किन्तु परम्परागत मूल्य पूर्णतः समाप्त नहीं हुए हैं। वर्तमान में आधुनिकीकरण का विशिष्टतावादी विकास प्रतिमान, सार्वभौमिक प्रतिमान की तुलना में अधिक व्यावहारिक और विश्वसनीय प्रतीत होता है।

बोध प्रश्न

1 माइक्रो–संरचनात्मक परिवर्तन का मुख्य प्रभाव किस पर पड़ता है?

A. केवल राज्य पर

B. केवल अर्थव्यवस्था पर

C. परिवार, जाति और ग्राम समुदाय पर

D. केवल उद्योग पर

2 योगेन्द्र सिंह के अनुसार माइक्रो–परिवर्तन का एक प्रमुख कारण क्या है?

A. केवल धार्मिक सुधार

B. मैक्रो संरचनाओं का विस्तार–प्रभाव (Spread Effect)

C. प्राकृतिक आपदा

D. तकनीकी निर्धारणवाद

12.12 सारांश

प्रोफेसर योगेन्द्र सिंह भारतीय समाजशास्त्र के प्रमुख आधुनिक विचारक थे। उन्होंने भारतीय समाज के अध्ययन में आधुनिकीकरण, सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक स्तरीकरण और सांस्कृतिक परिवर्तन पर विशेष ध्यान दिया। उनकी प्रमुख विशेषता यह रही कि वे एक विशुद्ध समाजशास्त्री थे और उन्होंने समाजशास्त्रीय अध्ययन को भारतीय सामाजिक संदर्भ से जोड़कर समझाया। योगेन्द्र सिंह का योगदान भारतीय समाजशास्त्र को वैज्ञानिक, व्यवस्थित और संदर्भ-सापेक्ष बनाने में अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके विचार आज भी भारतीय समाज को समझने के लिए उपयोगी और प्रासंगिक हैं।

12.12 पारिभाषिक शब्दावली

आधुनिकीकरण – परंपरागत समाज से आधुनिक समाज की ओर होने वाली परिवर्तन की प्रक्रिया।
सामाजिक परिवर्तन – समाज की संरचना, संस्थाओं और संबंधों में होने वाला परिवर्तन।
सामाजिक स्तरीकरण– समाज में व्यक्तियों और समूहों का असमान लेकिन व्यवस्थित विभाजन।
संस्कृतिकर – निम्न जातियों द्वारा उच्च जातियों के व्यवहार और रीति-रिवाज अपनाने की प्रक्रिया।
पश्चिमीकरण– पश्चिमी संस्कृति, शिक्षा और जीवन-शैली के प्रभाव से होने वाला परिवर्तन।
इस्लामीकरण– इस्लामी संस्कृति और मूल्यों के प्रभाव से समाज में होने वाला परिवर्तन।

उद्विकासीय परिवर्तन – धीरे-धीरे और क्रमिक रूप से होने वाला सामाजिक परिवर्तन।

संरचनात्मक परिवर्तन– समाज की मूल संरचना में होने वाला व्यापक परिवर्तन।

12.13 बोध प्रश्न के उत्तर

बोध प्रश्न-1 उ **उत्तर: C** **2** उत्तर: B

12.14 संदर्भ ग्रंथ

1 Singh, yoggendra, p. 148
2 Pannikar, 1955, “hindu Society at Cross Roads”, Asia Publishing House, Bombay

12.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1. योगेन्द्र सिंहका संक्षिप्त जीवन-परिचय लिखिए।

2. योगेंद्र सिंह का समाजशास्त्र के लिए योगदान संक्षेप में समझाइए।

इकाई–13

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर (B.R. Ambedkar)

13.0 प्रस्तावना

13.1 उद्देश्य

13.2 डॉ. बी. आर. अम्बेडकर : जीवन एवं व्यक्तित्व

13.2.1 प्रारंभिक जीवन एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि

13.2.2 शिक्षा एवं बौद्धिक निर्माण

13.2.3 सामाजिक अनुभव और संघर्ष

13.3 डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का सामाजिक दर्शन

13.3.1 जाति व्यवस्था की आलोचना

13.3.2 सामाजिक समानता और न्याय की अवधारणा

13.3.3 दलित चेतना और आत्मसम्मान

13.4 राजनीतिक विचार एवं लोकतंत्र की अवधारणा

13.4.1 लोकतंत्र: राजनीतिक बनाम सामाजिक

13.4.2 अधिकार, स्वतंत्रता और समानता

13.4.3 संवैधानिक नैतिकता

13.5 भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में अम्बेडकर

13.5.1 संविधान सभा में भूमिका

13.5.2 मौलिक अधिकार एवं राज्य के नीति–निदेशक तत्व

13.5.3 सामाजिक न्याय और आरक्षण नीति

13.6 धर्म, नैतिकता और बौद्ध दर्शन

13.6.1 धर्म की पुनर्व्याख्या, बौद्ध धर्म की ओर परिवर्तन तथा नैतिकता की अवधारणा

13.7 डॉ. बी. आर. अम्बेडकर और समकालीन भारत

13.7.1 सामाजिक–राजनीतिक प्रासंगिकता, दलित आंदोलन और अम्बेडकरवाद की समकालीन व्याख्याएँ

13.8 डॉ. बी. आर. अम्बेडकर अध्ययन का महत्व

13.9 सारांश (Summary)

13.10 प्रमुख शब्दावली (Key Words)

13.11 अभ्यास प्रश्न

13.12 संदर्भ एवं सहायक पाठ्य सामग्री (References and Further Readings)

13.0 प्रस्तावना

डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर आधुनिक भारत के उन महान विचारकों में से हैं, जिनका योगदान सामाजिक, राजनीतिक और संवैधानिक क्षेत्रों में अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। वे न केवल भारतीय संविधान के प्रमुख निर्माता थे, बल्कि एक प्रखर समाज सुधारक, अर्थशास्त्री, विधिवेत्ता और दार्शनिक भी थे। उनका चिंतन भारतीय समाज की संरचनात्मक असमानताओं, विशेष रूप से जाति व्यवस्था और सामाजिक बहिष्करण, के गहन विश्लेषण पर आधारित था। अम्बेडकर का अध्ययन हमें भारतीय लोकतंत्र की सामाजिक नींव को समझने में सहायता प्रदान करताहै।

भारतीय समाज ऐतिहासिक रूप से विविधताओं और विषमताओं से युक्त रहा है। इस समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव, अस्पृश्यता और सामाजिक अन्याय ने एक बड़े वर्ग को लंबे समय तक मुख्यधारा से वंचित रखा। डॉ. अम्बेडकर ने इन समस्याओं को केवल सामाजिक बुराइयों के रूप में नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए गंभीर चुनौती के रूप में देखा। उनकी दृष्टि में जब तक सामाजिक समानता स्थापित नहीं होती, तब तक राजनीतिक लोकतंत्र अधूरा रहता है। इस संदर्भ में अम्बेडकर का चिंतन आज भी प्रासंगिक बना हुआ है।

डॉ. अम्बेडकर का विचार दर्शन पश्चिमी शिक्षा और भारतीय सामाजिक यथार्थ के समन्वय से विकसित हुआ था। कोलंबिया विश्वविद्यालय और लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स से प्राप्त शिक्षा ने उन्हें आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों, जैसे स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व, की गहरी समझ प्रदान की। वहीं भारतीय समाज में उनके व्यक्तिगत अनुभवों ने उन्हें सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार उनका चिंतन सैद्धांतिक होने के साथ-साथ व्यावहारिक और अनुभवजन्य भी था।

अम्बेडकर का अध्ययन केवल एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि एक वैचारिक परंपरा के रूप में भी देखा जाना चाहिए, जिसे 'अम्बेडकरवाद' कहा जाता है। यह परंपरा सामाजिक न्याय, मानव गरिमा और संवैधानिक नैतिकता पर बल देती है। अम्बेडकर ने यह स्पष्ट किया कि कानून और संविधान तभी प्रभावी हो सकते हैं, जब समाज में नैतिक चेतना और समानता की भावना विकसित हो। अतः उनकी विचारधारा राज्य और समाज दोनों के पुनर्निर्माण की मांग करती है।

इस इकाई की भूमिका के रूप में यह कहना उचित होगा कि डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का अध्ययन विद्यार्थियों को न केवल भारतीय संविधान और लोकतंत्र की संरचना को समझने में मदद करता है, बल्कि उन्हें सामाजिक

उत्तरदायित्व और आलोचनात्मक चिंतन के लिए भी प्रेरित करता है। स्नातक स्तर पर अम्बेडकर के विचारों का अध्ययन छात्रों में सामाजिक संवेदनशीलता, न्यायप्रियता और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता विकसित करता है।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत विद्यार्थी:-

1. डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के जीवन, शिक्षा एवं सामाजिक संघर्षों को समझ सकेंगे।
2. अम्बेडकर के सामाजिक दर्शन, विशेष रूप से जाति व्यवस्था की आलोचना और सामाजिक न्याय की अवधारणा का विश्लेषण कर सकेंगे।
3. लोकतंत्र, अधिकार, समानता और संवैधानिक नैतिकता के संदर्भ में अम्बेडकर के राजनीतिक विचारों को समझ सकेंगे।
4. भारतीय संविधान के निर्माण में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका तथा मौलिक अधिकारों, नीति–निदेशक तत्वों और आरक्षण नीति के महत्व को स्पष्ट कर सकेंगे।
5. समकालीन भारत में अम्बेडकर के विचारों की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करने में सक्षम हो सकेंगे।

13.2 डॉ. बी. आर. अम्बेडकर : जीवन एवं व्यक्तित्व

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का जीवन संघर्ष, विद्वत्ता और सामाजिक प्रतिबद्धता का अद्वितीय उदाहरण है। उनका व्यक्तित्व केवल एक राजनीतिक नेता या संविधान निर्माता तक सीमित नहीं था, बल्कि वह एक ऐसे विचारक थे जिन्होंने भारतीय समाज की जड़ समस्याओं का वैज्ञानिक विश्लेषण किया। अम्बेडकर का जीवन व्यक्तिगत पीड़ा और सामाजिक अन्याय के अनुभवों से गहराई से जुड़ा हुआ था, जिसने उनके विचारों को दिशा प्रदान की। यही कारण है कि उनका चिंतन केवल सैद्धांतिक न होकर सामाजिक यथार्थ से प्रेरित और व्यवहारिक था।

अम्बेडकर का व्यक्तित्व बौद्धिक दृढ़ता और नैतिक साहस का प्रतीक था। उन्होंने समाज में व्याप्त अन्याय को स्वीकार करने के बजाय उसे चुनौती देने का मार्ग चुना। शिक्षा को उन्होंने सामाजिक मुक्ति का सबसे प्रभावी साधन माना और स्वयं उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर यह सिद्ध किया कि वंचित वर्ग भी बौद्धिक नेतृत्व प्रदान कर सकता है। उनका जीवन इस बात का प्रमाण है कि ज्ञान और संघर्ष के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन संभव है।

डॉ. अम्बेडकर की एक प्रमुख विशेषता उनका स्वतंत्र और तार्किक चिंतन था। वे किसी भी विचारधारा को बिना आलोचनात्मक परीक्षण के स्वीकार नहीं करते थे। चाहे वह परंपरागत सामाजिक व्यवस्था हो, धार्मिक मान्यताएँ हों या समकालीन राजनीतिक आंदोलन—उन्होंने सभी का मूल्यांकन तर्क, न्याय और मानव गरिमा के आधार पर किया। इस दृष्टिकोण ने उन्हें कई बार अपने समय के प्रमुख नेताओं से वैचारिक रूप से अलग खड़ा किया, किंतु उन्होंने अपने सिद्धांतों से समझौता नहीं किया। उनका व्यक्तित्व गहरी संवेदनशीलता और सामाजिक करुणा से भी युक्त था। अम्बेडकर ने दलितों, श्रमिकों, महिलाओं और अन्य वंचित वर्गों के अधिकारों को अपने जीवन का केंद्रीय उद्देश्य बनाया। उन्होंने

सामाजिक सुधार को केवल उपदेश तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे संस्थागत और कानूनी स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया। यही कारण है कि उनके प्रयास संविधान, कानून और सार्वजनिक नीतियों में स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं।

समग्र रूप से देखा जाए तो डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का जीवन और व्यक्तित्व भारतीय समाज के लिए प्रेरणास्रोत है। वे संघर्ष और आशा, यथार्थ और आदर्श, तथा विचार और कर्म के संतुलन का सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। उनके जीवन का अध्ययन विद्यार्थियों को यह सिखाता है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए बौद्धिक स्पष्टता, नैतिक साहस और निरंतर प्रयास अनिवार्य हैं। इस प्रकार, अम्बेडकर का व्यक्तित्व भारतीय लोकतंत्र की आत्मा को समझने की कुंजी प्रदान करता है।

13.2.1 प्रारंभिक जीवन एवं पारिवारिक पृष्ठभूमि

डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल 1891 को मध्य प्रदेश के महू छावनी क्षेत्र में हुआ। उनका परिवार महार जाति से संबंधित था, जिसे उस समय सामाजिक रूप से अछूत माना जाता था। जन्म से ही अम्बेडकर को उस सामाजिक व्यवस्था का सामना करना पड़ा, जिसमें जाति व्यक्ति की पहचान, अवसर और सम्मान को निर्धारित करती थी। यह सामाजिक पृष्ठभूमि उनके जीवन और विचारों के निर्माण में निर्णायक सिद्ध हुई। अम्बेडकर के पिता रामजी मालोजी सकपाल ब्रिटिश भारतीय सेना में सूबेदार थे और अनुशासन, शिक्षा तथा आत्मसम्मान को अत्यधिक महत्व देते थे। यद्यपि परिवार आर्थिक रूप से सीमित संसाधनों वाला था, फिर भी शिक्षा को प्राथमिकता दी जाती थी। उनके पिता ने भीमराव को पढ़ाई के लिए निरंतर प्रोत्साहित किया, जो आगे चलकर उनके शैक्षणिक और बौद्धिक विकास का आधार बना। यह पारिवारिक वातावरण अम्बेडकर के व्यक्तित्व में अनुशासन और दृढ़ता के गुण विकसित करने में सहायक रहा।

बचपन में अम्बेडकर को विद्यालय और सामाजिक जीवन में गंभीर भेदभाव का सामना करना पड़ा। स्कूल में उन्हें अलग बैठाया जाता था और सामान्य सुविधाओं से वंचित रखा जाता था। पानी तक उन्हें स्वयं छूने की अनुमति नहीं थी। ये अनुभव केवल व्यक्तिगत पीड़ा तक सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने अम्बेडकर को सामाजिक अन्याय की संरचनात्मक प्रकृति को समझने में सहायता दी। इस प्रकार उनके प्रारंभिक जीवन के अनुभव उनके सामाजिक चिंतन की नींव बने। अम्बेडकर का पारिवारिक जीवन कठिनाइयों से भरा रहा। माता की असमय मृत्यु और सीमित सामाजिक समर्थन ने उनके जीवन को और चुनौतीपूर्ण बना दिया। इसके बावजूद, उन्होंने शिक्षा के माध्यम से अपने लिए और अपने समुदाय के लिए एक नया मार्ग प्रशस्त करने का संकल्प लिया। प्रारंभिक संघर्षों ने उनमें आत्मनिर्भरता और साहस की भावना को प्रबल किया, जो आगे चलकर उनके सार्वजनिक जीवन में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर का प्रारंभिक जीवन और पारिवारिक पृष्ठभूमि केवल उनकी जीवनी का हिस्सा नहीं है, बल्कि उनके वैचारिक विकास की कुंजी भी है। जातिगत उत्पीड़न, पारिवारिक अनुशासन और शिक्षा के प्रति प्रतिबद्धता—इन तीनों तत्वों ने उनके व्यक्तित्व को गढ़ा। बड़ौदा के शिक्षा प्रेमी महाराज सयाजीराव गायक वाड के छात्रवृत्ति देने पर 1913 में उन्होंने

अमेरिका के कोलंबिया विश्वविद्यालय में राजनीति शास्त्र की विद्यार्थी के रूप में प्रवेश किया| मुंबई में अम्बेडकर ने दि स्माल थे स्मॉल होल्डिंग्स इन इंडिया एंड देयर रेमिडीज नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की |1916 में भारत में जाति-भेद नामक प्रबंध लिखकर प्रोफेसर गोल्डन के सामने पढ़ और उसी वर्ष भारत की अर्थव्यवस्था पर एक प्रबंध लिखा जिस पर कोलंबिया विश्वविद्यालय ने उन्हें पीएचडी की डिग्री प्रदान की |मुंबई नवंबर 1918 में डॉ अम्बेडकर मुंबई से सिडेनहम कॉलेज आफ कामर्स एंड इकोनॉमिक्स में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुए|मुंबई में अम्बेडकर ने दि स्माल थे स्मॉल होल्डिंग्स इन इंडिया एंड देयर रेमिडीज नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की |उन्होंने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य हिंदू समाज के अन्याय तथा अत्याचार का प्रतिकार करके अस्पृश्यो द्वार करना निश्चित किया| जून 1921 में लंदन विश्वविद्यालय ने उनके द्वारा लिखित प्रबंध प्रोविंशियल डिस्टेंस ट्रांसल डिसेंटलाइजेशन एंड इंपीरियल फायनास इन ब्रिटिश इंडिया पर एम.एस .सी की उपाधि प्रदान की| जून 1922 में उन्होंने एक अन्य शोध पत्र प्रॉब्लम आफ रूपी लंदन विश्वविद्यालय में जमा कराया |इसके पश्चात वे जर्मनी के बोन विश्वविद्यालय में पढ़ाई के लिए गए और वहां से उन्होंने डी.एससी. की उपाधि प्राप्त की| उनका शोध पत्र दिसंबर 1923 में प्रकाशित हुआ |अम्बेडकर अप्रैल 1923 में बैरिस्टर बने व उसी वर्ष से उन्होंने मुंबई उच्च न्यायालय में वकालत करनी प्रारंभ की|अम्बेडकर को आधुनिक युग का मनु भारतीय संविधान का पिता तथा 20वीं सदी का स्मृतिकार कहा जाता है| अम्बेडकर ने राज्य पुनर्गठन आयोग (फजल अली आयोग)1953 की रिपोर्ट के संदर्भ में कहा कि "मेमनो के ऊन कतर लिए गए हैं" वे सर्दी की तीव्रता महसूस कर रहे हैं ।1990 को अम्बेडकर को मरणोपरांत भारत रत्न दिया गया। अम्बेडकर के तीन आदर्श थे गौतम बुद्ध, कबीर व ज्योतिबा फुले।|इन्हीं अनुभवों के आधार पर उन्होंने भारतीय समाज की आलोचना की और सामाजिक न्याय पर आधारित नए सामाजिक ढांचे की कल्पना प्रस्तुत की।

13.2.3 सामाजिक अनुभव और संघर्ष

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के सामाजिक अनुभव उनके विचारों और आंदोलनों की आधारशिला रहे। शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी उन्हें सामाजिक जीवन में समानता और सम्मान प्राप्त नहीं हुआ, जिससे यह स्पष्ट हुआ कि व्यक्तिगत उपलब्धियाँ जातिगत भेदभाव को समाप्त नहीं कर सकतीं। सार्वजनिक स्थानों, कार्यालयों और सामाजिक संस्थाओं में उनके साथ होने वाला भेदभाव भारतीय समाज की गहरी जड़ें जमाए असमानता को उजागर करता है। इन अनुभवों ने अम्बेडकर को सामाजिक संघर्ष के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया।

अम्बेडकर ने अपने सामाजिक संघर्षों को संगठित रूप देने के लिए दलितों और वंचित वर्गों के बीच जागरूकता फैलाने का कार्य किया। उन्होंने शिक्षा, संगठन और संघर्ष को सामाजिक मुक्ति के तीन प्रमुख साधन माना। विभिन्न सम्मेलनों, लेखों और भाषणों के माध्यम से उन्होंने दलित समाज को आत्मसम्मान और अधिकारों के प्रति सचेत किया। यह संघर्ष केवल विरोध तक सीमित नहीं था, बल्कि समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाने का प्रयास भी था। अस्पृश्यता के विरुद्ध अम्बेडकर के आंदोलनों का विशेष महत्व है। महाड़ सत्याग्रह और मंदिर प्रवेश आंदोलन जैसे प्रयासों ने सामाजिक समानता की मांग को सार्वजनिक मंच पर स्थापित किया। इन आंदोलनों के माध्यम से अम्बेडकर ने यह स्पष्ट

किया कि सामाजिक अधिकारों के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता अधूरी है। उनके संघर्षों ने भारतीय समाज में सामाजिक न्याय की बहस को नई दिशा दी।

अम्बेडकर के सामाजिक संघर्षों में महिलाओं और श्रमिक वर्ग के अधिकारों को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उन्होंने महिलाओं की शिक्षा, संपत्ति अधिकार और समानता का समर्थन किया तथा श्रमिकों के लिए बेहतर कार्य परिस्थितियों की मांग की। उनके सामाजिक दृष्टिकोण में समावेशिता और समानता केंद्रीय तत्व थे, जो उन्हें अपने समकालीन नेताओं से अलग पहचान प्रदान करते हैं। इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक अनुभव और संघर्ष भारतीय समाज के परिवर्तन की एक सशक्त कथा प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने व्यक्तिगत पीड़ा को सामूहिक चेतना में परिवर्तित किया और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध वैचारिक एवं व्यावहारिक संघर्ष का मार्ग प्रशस्त किया।

13.3 डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का सामाजिक दर्शन

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का सामाजिक दर्शन भारतीय समाज की संरचनात्मक असमानताओं के गहन विश्लेषण पर आधारित है। उन्होंने समाज को केवल परंपराओं और आस्थाओं का समूह नहीं माना, बल्कि उसे एक ऐसी व्यवस्था के रूप में देखा जो सत्ता, संसाधनों और सम्मान का वितरण करती है। उनके अनुसार भारतीय समाज की सबसे बड़ी समस्या जाति व्यवस्था है, जिसने सामाजिक गतिशीलता को अवरुद्ध किया और मानव गरिमा को गंभीर रूप से आहत किया। अम्बेडकर का सामाजिक दर्शन इसी अन्यायपूर्ण व्यवस्था के उन्मूलन की मांग करता है।

अम्बेडकर ने सामाजिक समानता को लोकतंत्र की आधारशिला माना। उनका तर्क था कि जब तक समाज में समानता स्थापित नहीं होती, तब तक राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थहीन बनी रहती है। उन्होंने सामाजिक सुधार को नैतिक आग्रह तक सीमित न रखकर कानूनी और संस्थागत परिवर्तन से जोड़ा। इस दृष्टि से उनका सामाजिक दर्शन आधुनिक, प्रगतिशील और संवैधानिक मूल्यों से युक्त है। अम्बेडकर के सामाजिक दर्शन में व्यक्ति की गरिमा को केंद्रीय स्थान प्राप्त है। उन्होंने प्रत्येक मनुष्य को समान अधिकारों और अवसरों का अधिकारी माना, चाहे उसकी सामाजिक उत्पत्ति कुछ भी हो। अस्पृश्यता और भेदभाव को उन्होंने मानवता के विरुद्ध अपराध कहा। उनके विचारों में सामाजिक न्याय का अर्थ केवल समानता नहीं, बल्कि ऐतिहासिक रूप से वंचित वर्गों को विशेष संरक्षण और अवसर प्रदान करना भी है।

उनका सामाजिक दर्शन तर्क, विज्ञान और अनुभव पर आधारित था। अम्बेडकर ने परंपरागत सामाजिक मान्यताओं की आलोचना करते हुए उन्हें विवेक की कसौटी पर परखा। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि जो परंपराएँ मानव स्वतंत्रता और समानता का उल्लंघन करती हैं, उन्हें संरक्षित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उनका चिंतन सामाजिक परिवर्तन के लिए बौद्धिक साहस का उदाहरण प्रस्तुत करता है। समग्र रूप से अम्बेडकर का सामाजिक दर्शन भारतीय समाज के पुनर्निर्माण की परियोजना है। यह दर्शन सामाजिक समरसता, समान अवसर और मानवीय गरिमा पर आधारित एक नए सामाजिक ढांचे की कल्पना करता है।

13.3.1 जाति व्यवस्था की आलोचना

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था को भारतीय समाज की सबसे मूलभूत और विनाशकारी समस्या के रूप में चिन्हित किया। उनके अनुसार जाति केवल श्रम विभाजन की व्यवस्था नहीं है, जैसा कि प्रायः तर्क दिया जाता रहा है, बल्कि यह श्रमिकों का भी विभाजन करती है और उन्हें ऊँच–नीच के कठोर पदानुक्रम में बाँध देती है। इस व्यवस्था ने समाज में असमानता, भेदभाव और शोषण को संस्थागत रूप प्रदान किया, जिससे सामाजिक गतिशीलता लगभग असंभव हो गई। अपने अछुतोद्वार आन्दोलन का श्रीगणेश इन्होने 20 जुलाई 1924 को बम्बई में ' बहिष्कृत हितकारणी सभा ' की स्थापना से किया |

अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था की आलोचना ऐतिहासिक और तार्किक दोनों आधारों पर की। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि जाति व्यवस्था का कोई वैज्ञानिक या नैतिक आधार नहीं है। यह जन्म पर आधारित पहचान को स्थायी बना देती है और व्यक्ति की क्षमता, योग्यता तथा परिश्रम को गौण कर देती है। इस प्रकार जाति व्यवस्था सामाजिक न्याय और आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों के पूर्णतः विरुद्ध है। जाति व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता सामाजिक पृथक्करण है, जिसे अम्बेडकर ने 'विभाजित समाज' की संज्ञा दी। उन्होंने तर्क दिया कि जाति व्यवस्था समाज को अलग–अलग खंडों में बाँट देती है, जिनके बीच आपसी सहयोग और सहानुभूति का अभाव होता है। इससे राष्ट्रीय एकता और सामाजिक बंधुत्व का विकास नहीं हो पाता। अम्बेडकर के अनुसार, जब तक जाति बनी रहेगी, तब तक समाज एक नैतिक समुदाय के रूप में विकसित नहीं हो सकता। अम्बेडकर ने केवल अस्पृश्यता को अपितु जातिवाद और वर्ण भेद को भी सदा के लिए मिटा देना चाहते थे| इस संदर्भ में उन्होंने 1927 में पहाड़ में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया तथा तदुपरांत चारदार के तालाब से, जहां अछूतों को पानी पीने की अनुमति नहीं थी ,सामूहिक रूप से पानी पिया |तत्पश्चात 2 मार्च 1930 को गुजरात के कलाराम मंदिर में अछूतों की प्रवेश पर लगी रोक के विरुद्ध सत्याग्रह आरंभ किया |8 अगस्त 1930 को नागपुर में एक अखिल भारतीय दलित कांग्रेस का |आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता अम्बेडकर ने की थी| उन्होंने दलित वर्ग के लोगों को लोक सेवा में जाने के लिए प्रोत्साहित किया |उन्होंने साइमन आयोग से यह शिकायत की थी कि उसने दलित वर्ग को आवश्यकताओं एवं उनके अधिकारों का क्रमबद्ध रूप से निम्न मूल्यांकन किया| दिसंबर 1930 में उन्होंने गोल में सम्मेलन में भाग लिया, जिसमें विश्व भर में उनकी छवि भारत की अस्पृश्य लोगों के नेता के ऊपर रूप उभर कर आई |उन्होंने दलित प्रति अंग्रेजों से अपेक्षित व्यवहार को लक्षित किया |उन्होंने अन्य भारतीय नागरिकों की भांति दलित वर्ग के लिए सम्मान नागरिक अधिकारों और अस्पृश्यता एवं किसी भी रूप में कानूनी असमानता के निवारण की मांग की|

अम्बेडकर ने जाति व्यवस्था को धार्मिक मान्यताओं से जोड़कर प्रस्तुत किए जाने की भी तीव्र आलोचना की। उन्होंने धर्मशास्त्रों की उस व्याख्या को चुनौती दी, जो जातिगत असमानता को दैवी या शाश्वत बताती है। उनके अनुसार कोई भी धर्म जो मनुष्य को मनुष्य से निम्न या उच्च ठहराता है, नैतिक नहीं हो सकता जाति का उन्मूलन Annihilation of Caste (1936) – यह डॉ. अम्बेडकर की सर्वाधिक प्रभावशाली और क्रांतिकारी रचना मानी जाती है, जिसमें उन्होंने जाति व्यवस्था को भारतीय समाज की मूल बीमारी बताया है। अम्बेडकर का स्पष्ट मत था कि जब तक जाति का पूर्ण

विनाश नहीं होगा, तब तक सामाजिक समानता, लोकतंत्र और वास्तविक स्वतंत्रता संभव नहीं है।। इस दृष्टि से अम्बेडकर का चिंतन धार्मिक सुधार और सामाजिक सुधार को एक-दूसरे से जोड़ता है। अन्ततः अम्बेडकर का निष्कर्ष था कि जाति व्यवस्था में सुधार संभव नहीं है, बल्कि उसका पूर्ण उन्मूलन ही सामाजिक न्याय का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। उन्होंने जाति के विनाश को भारतीय समाज के लोकतांत्रिक पुनर्निर्माण की अनिवार्य शर्त माना।

13.3.2 सामाजिक समानता और न्याय की अवधारणा

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की सामाजिक समानता की अवधारणा भारतीय समाज की वास्तविक परिस्थितियों से जुड़ी हुई है। उनके अनुसार समानता का अर्थ केवल कानून के समक्ष समानता नहीं है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में भी समान अवसरों की उपलब्धता है। अम्बेडकर ने इस बात पर बल दिया कि यदि समाज में गहरी असमानताएँ बनी रहें, तो औपचारिक समानता केवल एक आदर्श बनकर रह जाती है। अम्बेडकर की न्याय की अवधारणा वितरणात्मक और सुधारात्मक दोनों आयामों को समाहित करती है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि ऐतिहासिक रूप से वंचित वर्गों को समान स्तर पर लाने के लिए विशेष उपाय आवश्यक हैं। इस संदर्भ में सामाजिक न्याय का अर्थ है उन संरचनात्मक बाधाओं को हटाना, जिन्होंने कुछ वर्गों को लंबे समय तक शिक्षा, संपत्ति और सत्ता से दूर रखा। उनके विचार आधुनिक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा से गहराई से जुड़े हुए हैं।

सामाजिक समानता और न्याय को अम्बेडकर ने लोकतंत्र की अनिवार्य शर्त माना। उनके अनुसार लोकतंत्र केवल मतदान या शासन प्रणाली तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक संबंधों की गुणवत्ता पर निर्भर करता है। जब समाज में भेदभाव और बहिष्करण व्याप्त हों, तब लोकतंत्र खोखला हो जाता है। इसीलिए उन्होंने सामाजिक सुधार को राजनीतिक सुधार से अधिक प्राथमिकता दी। अम्बेडकर की न्याय की अवधारणा नैतिकता और विवेक से भी जुड़ी हुई है। उन्होंने यह तर्क दिया कि कानून तब तक प्रभावी नहीं हो सकता, जब तक समाज में न्याय के प्रति नैतिक प्रतिबद्धता न हो। इस संदर्भ में उन्होंने 'संवैधानिक नैतिकता' पर बल दिया, जो नागरिकों और संस्थाओं दोनों से समानता और न्याय के मूल्यों के पालन की अपेक्षा करती है।

समग्र रूप से सामाजिक समानता और न्याय की अम्बेडकरवादी अवधारणा भारतीय समाज के पुनर्गठन की रूपरेखा प्रस्तुत करती है। यह अवधारणा छात्रों को यह समझने में सहायता करती है कि न्याय केवल दंड या अधिकारों का प्रश्न नहीं है, बल्कि सामाजिक संरचनाओं के परिवर्तन का भी प्रश्न है।

13.3.3 दलित चेतना और आत्मसम्मान

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के सामाजिक दर्शन में दलित चेतना का विशेष स्थान है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि सामाजिक उत्पीड़न केवल बाहरी दमन का परिणाम नहीं होता, बल्कि लंबे समय तक चले भेदभाव के कारण उत्पीड़ित वर्गों में हीनता की भावना भी विकसित हो जाती है। अम्बेडकर के अनुसार दलित मुक्ति का प्रथम चरण आत्मचेतना का विकास है, जिसमें व्यक्ति स्वयं को सम्मान और अधिकारों का अधिकारी मानने लगता है। अम्बेडकर ने दलित चेतना

को केवल पीड़ा की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की प्रेरक शक्ति के रूप में देखा। उन्होंने दलित समाज को यह संदेश दिया कि आत्मसम्मान के बिना कोई भी सामाजिक या राजनीतिक अधिकार स्थायी नहीं हो सकता। इसी संदर्भ में उनका प्रसिद्ध कथन "शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो" दलित चेतना के वैचारिक आधार को स्पष्ट करता है। यह चेतना व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक जागरण से भी जुड़ी हुई है।

आत्मसम्मान की अवधारणा अम्बेडकर के लिए केवल मानसिक अवस्था नहीं थी, बल्कि सामाजिक व्यवहार और संस्थागत व्यवस्था से भी संबंधित थी। उन्होंने दलितों को परंपरागत अपमानजनक पेशों और सामाजिक भूमिकाओं से बाहर निकलने के लिए प्रेरित किया। उनका मानना था कि जब तक समाज में सम्मानजनक जीवन की स्थितियाँ निर्मित नहीं होतीं, तब तक आत्मसम्मान केवल एक आदर्श बना रहेगा। इसीलिए उन्होंने शिक्षा, रोजगार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व पर विशेष बल दिया। दलित चेतना के विकास में अम्बेडकर ने वैकल्पिक सांस्कृतिक और धार्मिक मार्गों की भी भूमिका को स्वीकार किया। बौद्ध धर्म की ओर उनका परिवर्तन दलित समाज के लिए आत्मसम्मान और नैतिक समानता का प्रतीक बना। यह परिवर्तन केवल धार्मिक नहीं था, बल्कि सामाजिक दासता से मुक्ति का वैचारिक और सांस्कृतिक प्रयास भी था। इससे दलित समाज को एक नई पहचान और आत्मगौरव प्राप्त हुआ। इस प्रकार दलित चेतना और आत्मसम्मान की अम्बेडकरवादी अवधारणा सामाजिक परिवर्तन की एक सशक्त प्रक्रिया को रेखांकित करती है। यह अवधारणा स्नातक स्तर के विद्यार्थियों को यह समझने में सहायता करती है कि सामाजिक न्याय केवल कानूनों से नहीं, बल्कि चेतना और सांस्कृतिक परिवर्तन से भी जुड़ा हुआ है। अम्बेडकर का यह विचार आज भी सामाजिक आंदोलनों और लोकतांत्रिक विमर्श में अत्यंत प्रासंगिक बना हुआ है।

13.4 राजनीतिक विचार एवं लोकतंत्र की अवधारणा

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के राजनीतिक विचार सामाजिक यथार्थ और लोकतांत्रिक आदर्शों के समन्वय पर आधारित हैं। उन्होंने राजनीति को केवल सत्ता प्राप्ति का साधन नहीं माना, बल्कि उसे सामाजिक परिवर्तन का उपकरण माना। उनके अनुसार राजनीति का उद्देश्य समाज में व्याप्त असमानताओं को समाप्त करना और प्रत्येक नागरिक को सम्मानजनक जीवन की गारंटी देना होना चाहिए। इस दृष्टि से उनके राजनीतिक विचार नैतिकता और सामाजिक न्याय से गहराई से जुड़े हुए हैं। अम्बेडकर की लोकतंत्र की अवधारणा परंपरागत राजनीतिक ढांचे से भिन्न थी। उन्होंने लोकतंत्र को मात्र शासन की प्रणाली के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन की एक पद्धति के रूप में परिभाषित किया। उनके अनुसार लोकतंत्र का वास्तविक स्वरूप तभी संभव है, जब समाज में स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के मूल्य व्यवहार में उतारे जाएँ। यदि समाज में जाति, भेदभाव और बहिष्करण विद्यमान हों, तो लोकतंत्र केवल औपचारिक बनकर रह जाता है।

राजनीतिक अधिकारों के संदर्भ में अम्बेडकर ने अल्पसंख्यकों और कमजोर वर्गों की सुरक्षा पर विशेष बल दिया। उन्होंने बहुमतवाद की निरंकुश प्रवृत्तियों के प्रति चेतावनी दी और संवैधानिक संरक्षण को आवश्यक माना। उनके

विचारों में प्रतिनिधित्व, अधिकार और उत्तरदायित्व का संतुलन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इस दृष्टिकोण ने भारतीय लोकतंत्र को अधिक समावेशी स्वरूप प्रदान किया। अम्बेडकर ने लोकतंत्र के संचालन में कानून और संस्थाओं की भूमिका को अत्यंत महत्वपूर्ण माना। उन्होंने संविधान को लोकतांत्रिक मूल्यों का संरक्षक माना और इसके प्रति नागरिकों तथा शासकों दोनों की निष्ठा को अनिवार्य बताया। 'संवैधानिक नैतिकता' की उनकी अवधारणा यह दर्शाती है कि लोकतंत्र केवल नियमों से नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक आचरण से भी जीवित रहता है। समग्र रूप से अम्बेडकर के राजनीतिक विचार भारतीय लोकतंत्र को सामाजिक आधार प्रदान करते हैं।

13.4.1 लोकतंत्र: राजनीतिक बनाम सामाजिक

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने लोकतंत्र की अवधारणा को केवल राजनीतिक ढांचे तक सीमित मानने से स्पष्ट रूप से इनकार किया। उनके अनुसार राजनीतिक लोकतंत्र, जिसमें मतदान का अधिकार और प्रतिनिधि शासन शामिल है, तब तक अधूरा रहता है जब तक वह सामाजिक लोकतंत्र पर आधारित न हो। सामाजिक लोकतंत्र का आशय ऐसे सामाजिक संबंधों से है, जो समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के मूल्यों पर आधारित हों। अम्बेडकर का मानना था कि यदि समाज में जाति और असमानता बनी रहती है, तो राजनीतिक लोकतंत्र केवल औपचारिक रह जाता है।

अम्बेडकर ने राजनीतिक लोकतंत्र की सीमाओं की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा कि केवल संवैधानिक प्रावधानों से सामाजिक न्याय सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। उन्होंने चेतावनी दी कि भारत में राजनीतिक समानता और सामाजिक असमानता के बीच गहरा विरोधाभास है। एक ओर सभी नागरिकों को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक जीवन में गहरी विषमताएँ व्याप्त हैं। यह स्थिति लोकतंत्र की स्थिरता के लिए गंभीर चुनौती उत्पन्न करती है। सामाजिक लोकतंत्र को अम्बेडकर ने लोकतांत्रिक व्यवस्था की आत्मा माना। उनके अनुसार जब तक समाज में सम्मानजनक जीवन, समान अवसर और सामाजिक सुरक्षा उपलब्ध नहीं कराई जाती, तब तक लोकतंत्र कमजोर बना रहता है। इस दृष्टि से अम्बेडकर का विचार आधुनिक लोकतांत्रिक सिद्धांतों को सामाजिक यथार्थ से जोड़ता है।

13.4.2 अधिकार, स्वतंत्रता और समानता

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के राजनीतिक विचारों में अधिकार, स्वतंत्रता और समानता एक-दूसरे से गहराई से जुड़े हुए हैं। उनके अनुसार ये तीनों मूल्य अलग–अलग नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक समाज के आधार स्तंभ हैं। अम्बेडकर ने यह स्पष्ट किया कि स्वतंत्रता केवल राज्य के हस्तक्षेप से मुक्ति तक सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक बंधनों से मुक्ति भी उतनी ही आवश्यक है। यदि व्यक्ति सामाजिक रूप से बंधा हुआ है, तो उसके राजनीतिक अधिकार भी अर्थहीन हो जाते हैं।

अम्बेडकर की समानता की अवधारणा औपचारिक समानता से आगे बढ़कर वास्तविक समानता पर बल देती है। उन्होंने तर्क दिया कि जन्म आधारित असमानताएँ व्यक्ति को समान अवसरों से वंचित कर देती हैं, इसलिए समान

अधिकार तभी प्रभावी हो सकते हैं जब समाज में संरचनात्मक बाधाओं को दूर किया जाए। इसी संदर्भ में उन्होंने विशेष प्रावधानों और संरक्षण को न्यायसंगत माना, ताकि सभी नागरिक समान स्तर पर आ सकें।

अधिकारों के संदर्भ में अम्बेडकर ने उन्हें केवल राज्य द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ नहीं, बल्कि मानव गरिमा की अभिव्यक्ति माना। उन्होंने मौलिक अधिकारों को नागरिकों की स्वतंत्रता और समानता की सुरक्षा का साधन बताया। इस प्रकार अम्बेडकर का चिंतन अधिकार, स्वतंत्रता और समानता के बीच संतुलन स्थापित करता है और लोकतंत्र को सामाजिक न्याय से जोड़ता है।

13.4.3 संवैधानिक नैतिकता

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने 'संवैधानिक नैतिकता' की अवधारणा को भारतीय लोकतंत्र की आत्मा के रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार संविधान केवल नियमों और संस्थाओं का संग्रह नहीं है, बल्कि यह उन मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है जिन पर लोकतांत्रिक समाज आधारित होता है। संवैधानिक नैतिकता का अर्थ है संविधान की भावना के प्रति सम्मान, जिसमें स्वतंत्रता, समानता और न्याय के सिद्धांत निहित हैं। अम्बेडकर का मानना था कि यदि नागरिक और शासक संविधान के मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध नहीं होंगे, तो लोकतांत्रिक व्यवस्था कमजोर पड़ जाएगी।

अम्बेडकर ने यह स्पष्ट किया कि संवैधानिक नैतिकता का विकास अपने आप नहीं होता, बल्कि इसके लिए निरंतर सामाजिक और राजनीतिक प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। उन्होंने चेतावनी दी कि भारत जैसे समाज में, जहाँ सामाजिक असमानताएँ गहरी हैं, संविधान का दुरुपयोग या उपेक्षा होने की संभावना बनी रहती है। इसीलिए उन्होंने संस्थाओं के साथ-साथ नागरिक चेतना के विकास पर बल दिया, ताकि लोकतंत्र केवल कानून के स्तर पर नहीं, बल्कि व्यवहार में भी सुदृढ़ हो सके। समकालीन संदर्भ में संवैधानिक नैतिकता की अवधारणा और अधिक प्रासंगिक हो जाती है। लोकतंत्र की रक्षा केवल न्यायालयों या सरकार की जिम्मेदारी नहीं है, बल्कि प्रत्येक नागरिक का दायित्व है।

13.5 भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में अम्बेडकर

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर को भारतीय संविधान का प्रमुख शिल्पकार माना जाता है। संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने संविधान निर्माण की जटिल और ऐतिहासिक प्रक्रिया का नेतृत्व किया। उनका उद्देश्य केवल एक प्रशासनिक ढांचा तैयार करना नहीं था, बल्कि ऐसे संवैधानिक सिद्धांतों को स्थापित करना था जो भारत जैसे सामाजिक रूप से विविध और असमान समाज को न्यायपूर्ण दिशा प्रदान कर सकें। अम्बेडकर का संवैधानिक दृष्टिकोण सामाजिक यथार्थ की गहरी समझ पर आधारित था। अम्बेडकर ने संविधान को सामाजिक परिवर्तन का साधन माना। उनके अनुसार भारत की सबसे बड़ी चुनौती राजनीतिक स्वतंत्रता नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना थी। इसीलिए उन्होंने संविधान में ऐसे प्रावधानों को शामिल किया जो ऐतिहासिक रूप से वंचित वर्गों को सुरक्षा और अवसर प्रदान कर सकें। मौलिक अधिकारों, समान नागरिकता और विधि के समक्ष समानता जैसे सिद्धांतों के माध्यम से उन्होंने सामाजिक असमानता को कम करने का प्रयास किया।

संविधान निर्माण के दौरान अम्बेडकर ने विभिन्न विचारधाराओं और मतभेदों के बीच संतुलन स्थापित किया। वे लोकतंत्र, संघवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे आधुनिक सिद्धांतों के समर्थक थे, परंतु साथ ही भारतीय परिस्थितियों के प्रति भी सजग थे। उन्होंने पश्चिमी संवैधानिक परंपराओं से प्रेरणा ली, किंतु उन्हें भारतीय सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। इससे संविधान को व्यावहारिक और स्थायी स्वरूप प्राप्त हुआ। अम्बेडकर ने संविधान की सफलता को केवल उसके प्रावधानों पर नहीं, बल्कि उसके क्रियान्वयन पर निर्भर माना। उन्होंने बार–बार इस बात पर बल दिया कि संविधान कितना भी अच्छा क्यों न हो, यदि उसे लागू करने वाले लोग ईमानदार और लोकतांत्रिक नहीं होंगे, तो वह असफल हो सकता है। इस संदर्भ में उनका यह कथन विशेष रूप से महत्वपूर्ण है कि "संविधान केवल एक ढांचा है, उसे चलाने वाले लोग ही उसे जीवंत बनाते हैं।"

इस प्रकार भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में अम्बेडकर की भूमिका ऐतिहासिक और वैचारिक दोनों दृष्टियों से अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्होंने संविधान को सामाजिक न्याय, मानव गरिमा और लोकतांत्रिक मूल्यों का दस्तावेज बनाया। अम्बेडकर के संवैधानिक योगदान का अध्ययन यह समझने में सहायक है कि संविधान केवल कानून का संग्रह नहीं, बल्कि एक सामाजिक अनुबंध और परिवर्तन की परियोजना है। प्रोफेसर के .वी(K. V.Rav) ने अपनी किताब – 'Parliamentary Democracy in India':A Critical Community'(1961) में उनके योगदान के कारण ' सभापतित्व करने वाले देवता'(Presiding Deities) कहा है तथा अम्बेडकर को सविधान की जननी(Mother) कहा है |

13.5.1 संविधान सभा में भूमिका

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने संविधान सभा में एक केंद्रीय और निर्णायक भूमिका निभाई। प्रारूप समिति के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने संविधान निर्माण की बौद्धिक और तकनीकी जिम्मेदारी संभाली। विभिन्न समितियों से प्राप्त सुझावों, संशोधनों और मतभेदों को समन्वित कर एक सुसंगत संवैधानिक प्रारूप तैयार करना उनका प्रमुख दायित्व था। इस प्रक्रिया में उनकी विधिक विशेषज्ञता, तुलनात्मक संवैधानिक ज्ञान और तार्किक क्षमता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। संविधान सभा की बहसों में अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय, मौलिक अधिकारों और अल्पसंख्यकों की सुरक्षा का दृढ़ता से समर्थन किया। उन्होंने यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया कि संविधान केवल बहुमत की इच्छा का दस्तावेज न बने, बल्कि समाज के कमजोर और वंचित वर्गों की आकांक्षाओं को भी प्रतिबिंबित करे। अनेक अवसरों पर उन्होंने भावनात्मक या राजनीतिक दबावों के बावजूद तर्क और संवैधानिक सिद्धांतों के आधार पर अपने विचार प्रस्तुत किए। अम्बेडकर की भूमिका केवल मसौदा तैयार करने तक सीमित नहीं थी, बल्कि वे संविधान की व्याख्या और रक्षा के भी प्रमुख प्रवक्ता थे। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि संविधान का उद्देश्य सामाजिक क्रांति को शांतिपूर्ण और लोकतांत्रिक मार्ग प्रदान करना है। इस प्रकार संविधान सभा में उनकी भूमिका भारत के संवैधानिक भविष्य को दिशा देने वाली सिद्ध हुई और भारतीय लोकतंत्र की नींव को सुदृढ़ किया।

13.5.2 मौलिक अधिकार एवं राज्य के नीति–निदेशक तत्व

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने मौलिक अधिकारों को भारतीय संविधान का नैतिक और कानूनी आधार माना। उनके अनुसार ये अधिकार व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता और गरिमा की रक्षा के लिए अनिवार्य हैं। संविधान सभा में उन्होंने इस बात पर विशेष बल दिया कि राज्य की शक्ति पर संवैधानिक सीमाएँ लगाई जाएँ, ताकि नागरिकों के अधिकार सुरक्षित रह सकें। इस दृष्टि से मौलिक अधिकारों को लोकतांत्रिक शासन की अनिवार्य शर्त के रूप में स्थापित किया गया। राज्य के नीति–निदेशक तत्वों को अम्बेडकर ने सामाजिक और आर्थिक न्याय की दिशा में मार्गदर्शक सिद्धांतों के रूप में देखा। यद्यपि ये तत्व न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं, फिर भी उन्होंने इन्हें संविधान की आत्मा का महत्वपूर्ण अंग माना। इनके माध्यम से राज्य को यह दायित्व सौंपा गया कि वह सामाजिक असमानताओं को कम करे, शिक्षा, स्वास्थ्य और आजीविका के अवसरों का विस्तार करे तथा एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की दिशा में कार्य करे। मौलिक अधिकारों और नीति–निदेशक तत्वों के बीच संतुलन अम्बेडकर के संवैधानिक दृष्टिकोण की विशेषता है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक कल्याण एक-दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। इस संतुलन के माध्यम से संविधान न केवल नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करता है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की दिशा भी निर्धारित करता है।

13.5.3 सामाजिक न्याय और आरक्षण नीति

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय को भारतीय संविधान का केंद्रीय उद्देश्य माना। उनके अनुसार सामाजिक न्याय का अर्थ केवल कानूनी समानता नहीं है, बल्कि उन ऐतिहासिक अन्यायों का सुधार भी है, जिनके कारण कुछ वर्ग लंबे समय तक शिक्षा, रोजगार और सत्ता से वंचित रहे। अम्बेडकर ने यह तर्क दिया कि असमान समाज में समान व्यवहार न्याय नहीं, बल्कि अन्याय को स्थायी बना देता है। इसी विचार के आधार पर उन्होंने विशेष प्रावधानों का समर्थन किया।

आरक्षण नीति को अम्बेडकर ने सामाजिक न्याय का व्यावहारिक उपकरण माना। उनका दृष्टिकोण यह था कि राजनीतिक और प्रशासनिक संरचनाओं में प्रतिनिधित्व के बिना वंचित वर्गों की आवाज़ दबकर रह जाएगी। आरक्षण को उन्होंने स्थायी समाधान नहीं, बल्कि अस्थायी सुधारात्मक उपाय के रूप में देखा, जिसका उद्देश्य समाज के कमजोर वर्गों को समान स्तर पर लाना है। इस नीति के माध्यम से उन्होंने लोकतंत्र को अधिक समावेशी बनाने का प्रयास किया। अम्बेडकर के विचार में आरक्षण का उद्देश्य सामाजिक संतुलन और अवसरों की समानता स्थापित करना था, न कि समाज को स्थायी रूप से विभाजित करना। उन्होंने बार–बार यह स्पष्ट किया कि सामाजिक न्याय तभी संभव है, जब आरक्षण के साथ शिक्षा, आर्थिक सुधार और सामाजिक चेतना का भी विकास हो। States and Minorities (1947)इस ग्रंथ में अम्बेडकर ने अल्पसंख्यकों के संवैधानिक अधिकारों, सामाजिक न्याय और राज्य समाजवाद की अवधारणा प्रस्तुत की है। यह कृति भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों और सामाजिक लोकतंत्र की वैचारिक

आधारशिला मानी जाती है। इस दृष्टि से अम्बेडकर की आरक्षण नीति सामाजिक सुधार की व्यापक परियोजना का अभिन्न अंग है।

13.6 धर्म, नैतिकता और बौद्ध दर्शन

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के चिंतन में धर्म का स्थान अत्यंत विशिष्ट है, किंतु उनका धर्म–बोध परंपरागत आस्था से भिन्न है। उन्होंने धर्म को अंधविश्वास या कर्मकांडों का संग्रह नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन को नैतिक दिशा देने वाली शक्ति के रूप में देखा। अम्बेडकर के अनुसार ऐसा कोई भी धर्म, जो मनुष्य–मनुष्य के बीच असमानता को वैध ठहराता है, नैतिक नहीं हो सकता। इस दृष्टि से उनका धर्म–चिंतन सामाजिक न्याय और मानव गरिमा से गहराई से जुड़ा हुआ है। अम्बेडकर ने भारतीय समाज में प्रचलित धार्मिक परंपराओं की आलोचना इसलिए की क्योंकि वे जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता को धार्मिक आधार प्रदान करती थीं। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि जब धर्म सामाजिक अन्याय का समर्थन करने लगे, तब वह मुक्ति का नहीं बल्कि दमन का साधन बन जाता है। अम्बेडकर का यह दृष्टिकोण धर्म को सामाजिक सुधार के संदर्भ में पुनर्परिभाषित करता है और उसे विवेक तथा नैतिकता की कसौटी पर रखता है।

नैतिकता अम्बेडकर के चिंतन का केंद्रीय तत्व है। उनके अनुसार समाज का मूल्यांकन उसके नैतिक मानकों से होना चाहिए, न कि केवल उसकी परंपराओं से। उन्होंने समानता, करुणा और न्याय को नैतिक जीवन के आधार स्तंभ माना। अम्बेडकर की नैतिक दृष्टि व्यक्तिगत आचरण तक सीमित नहीं थी, बल्कि वह सामाजिक संस्थाओं और राज्य की नीतियों पर भी लागू होती थी। इसी कारण उनका चिंतन सामाजिक और राजनीतिक नैतिकता दोनों को समाहित करता है।

बौद्ध दर्शन की ओर अम्बेडकर का झुकाव उनके नैतिक और सामाजिक चिंतन की स्वाभाविक परिणति था। उन्होंने बुद्ध के धर्म को तर्क, करुणा और समता पर आधारित पाया। अम्बेडकर ने 1950 में काठमांडू में 'विश्व बौद्ध सम्मेलन को' मार्क्सवाद एवं बौद्ध धर्म' विषय पर संबोधित किया। जुलाई 1951 में उन्होंने भारतीय बौद्ध जन संघ की तथा 1955 में भारतीय बौद्ध सभा की स्थापना की। 15 अप्रैल, 1948 को इन्होंने डॉ शारदा कबीर , जो की जाति से ब्राह्मण थी ,उसे पुनर्विवाह किया (उनकी प्रथम पत्नी को 27 मई 1935 को स्वर्गवास हो चुका था) हिंदू धर्म में व्यापक छुआछूत एवं अन्य कुरीतियों से खिन्न होकर डॉ अम्बेडकर ने 14 अक्टूबर 1956 को नागपुर में अपना लगभग 2 लाख दलित अनुयायियों के साथ सामूहिक रूप से हिंदू धर्म को त्याग कर बौद्ध धर्म की दीक्षा ली| बौद्ध धर्म में उन्हें ऐसा नैतिक ढांचा दिखाई दिया, जो जन्म आधारित असमानता को अस्वीकार करता है और मनुष्य की गरिमा को केंद्र में रखता है। इसीलिए अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म को सामाजिक मुक्ति का वैचारिक आधार माना। इस प्रकार धर्म, नैतिकता और बौद्ध दर्शन का समन्वय अम्बेडकर के सामाजिक दर्शन को एक मानवीय और प्रगतिशील स्वरूप प्रदान करता है। उनके विचार छात्रों को यह समझने में सहायता करते हैं कि धर्म तब ही सार्थक है, जब वह सामाजिक समानता और न्याय को बढ़ावा दे। The Buddha and His Dhamma (1956)यह डॉ. अम्बेडकर की अंतिम और सर्वाधिक

महत्वपूर्ण कृति है, जिसमें उन्होंने बुद्ध के धम्म को समानता, करुणा और सामाजिक न्याय के दर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है। यही ग्रंथ उनके बौद्ध धर्म ग्रहण करने की वैचारिक नींव बना।

13.6.1 धर्म की पुनर्व्याख्या, बौद्ध धर्म की ओर परिवर्तन तथा नैतिकता की अवधारणा

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर ने धर्म की पुनर्व्याख्या सामाजिक न्याय और मानव गरिमा के आधार पर की। उनके अनुसार धर्म का उद्देश्य मनुष्य के नैतिक और सामाजिक जीवन को दिशा देना होना चाहिए, न कि जन्म आधारित असमानताओं को वैध ठहराना। उन्होंने उन धार्मिक परंपराओं की आलोचना की जो जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता को दैवी मान्यता प्रदान करती थीं। अम्बेडकर के लिए धर्म तभी सार्थक था, जब वह स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसे मूल्यों को व्यवहार में स्थापित करे। इस दृष्टि से उनका धर्म–चिंतन विवेक और नैतिकता पर आधारित था, न कि आस्था और परंपरा पर।

इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में अम्बेडकर का बौद्ध धर्म की ओर परिवर्तन एक ऐतिहासिक और वैचारिक निर्णय था। उन्होंने बौद्ध धर्म को ऐसा नैतिक दर्शन माना, जो तर्कसंगत है और सामाजिक समानता को स्वीकार करता है। बौद्ध धर्म में न तो जाति का स्थान है और न ही जन्म आधारित श्रेष्ठता का सिद्धांत। अम्बेडकर के अनुसार यह धर्म करुणा, प्रज्ञा और मैत्री पर आधारित है, जो सामाजिक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। उनका धर्मांतरण केवल व्यक्तिगत आस्था का विषय नहीं था, बल्कि दलित समाज को आत्मसम्मान और नई सामाजिक पहचान प्रदान करने का प्रयास था।

अम्बेडकर की नैतिकता की अवधारणा व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों स्तरों पर लागू होती है। उन्होंने नैतिकता को सामाजिक व्यवहार और संस्थागत व्यवस्था से जोड़ा। उनके अनुसार कोई भी समाज तब तक नैतिक नहीं हो सकता, जब तक उसमें समानता और न्याय का अभाव हो। बौद्ध दर्शन की करुणा और विवेक की अवधारणाएँ अम्बेडकर की नैतिक सोच का आधार बनीं। इस प्रकार धर्म, नैतिकता और बौद्ध दर्शन का समन्वय अम्बेडकर के चिंतन को मानवीय, प्रगतिशील और सामाजिक रूप से क्रांतिकारी स्वरूप प्रदान करता है।

13.7 अम्बेडकर और समकालीन भारत

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का चिंतन समकालीन भारत को समझने की एक प्रभावी वैचारिक कुंजी प्रदान करता है। स्वतंत्रता के बाद भारत ने लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को अपनाया, किंतु सामाजिक और आर्थिक असमानताएँ अब भी बनी रहीं। अम्बेडकर ने पहले ही चेतावनी दी थी कि यदि राजनीतिक समानता के साथ सामाजिक समानता स्थापित नहीं की गई, तो लोकतंत्र आंतरिक विरोधाभासों से ग्रस्त हो जाएगा। आज के भारत में यह चेतावनी विशेष रूप से प्रासंगिक प्रतीत होती है। समकालीन भारत में सामाजिक न्याय, पहचान की राजनीति और अधिकारों की बहसें अम्बेडकर के विचारों से गहराई से जुड़ी हुई हैं। दलित, आदिवासी, पिछड़े वर्ग और अन्य वंचित समूह अपने अधिकारों और प्रतिनिधित्व की मांग जिस संवैधानिक भाषा में करते हैं, वह काफी हद तक अम्बेडकर के चिंतन से प्रेरित है।

आरक्षण, समान अवसर और गरिमापूर्ण जीवन जैसे प्रश्न आज भी सार्वजनिक विमर्श के केंद्र में हैं, जो अम्बेडकर की सामाजिक दृष्टि की निरंतरता को दर्शाते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में भी अम्बेडकर की प्रासंगिकता स्पष्ट दिखाई देती है। बहुमतवाद, संस्थाओं की स्वायत्तता और संवैधानिक मूल्यों को लेकर होने वाली बहसों में अम्बेडकर का 'संवैधानिक नैतिकता' का विचार बार–बार संदर्भ बिंदु बनता है। उन्होंने जिस लोकतंत्र को सामाजिक जिम्मेदारी और नैतिकता से जोड़ा था, उसकी आवश्यकता आज के समय में और अधिक महसूस की जा रही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अम्बेडकर केवल अतीत के विचारक नहीं, बल्कि वर्तमान के मार्गदर्शक भी हैं।

शिक्षा, मीडिया और नागरिक समाज में अम्बेडकर की उपस्थिति समकालीन भारत की वैचारिक दिशा को प्रभावित कर रही है। विश्वविद्यालयों में अम्बेडकर अध्ययन, सामाजिक आंदोलनों में उनके विचारों का प्रयोग और सार्वजनिक प्रतीकों में उनकी स्मृति—ये सभी उनके बढ़ते प्रभाव को दर्शाते हैं। यह प्रक्रिया केवल स्मरण की नहीं, बल्कि उनके विचारों के पुनर्पाठ और पुनर्व्याख्या की भी है, जो बदलते सामाजिक संदर्भों के अनुरूप हो रही है।

इस प्रकार अम्बेडकर और समकालीन भारत का संबंध एक जीवंत और गतिशील संबंध है। अम्बेडकर का चिंतन आज भी सामाजिक न्याय, लोकतंत्र और मानव गरिमा के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के लिए यह विषय यह समझने में सहायक है कि विचार कैसे समय की सीमाओं को पार कर समाज के वर्तमान और भविष्य को दिशा देते हैं। अम्बेडकर का अध्ययन समकालीन भारत की चुनौतियों को समझने और उनसे निपटने के लिए वैचारिक आधार प्रदान करता है।

13.7.1 सामाजिक–राजनीतिक प्रासंगिकता, दलित आंदोलन और अम्बेडकरवाद की समकालीन व्याख्याएँ

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की सामाजिक–राजनीतिक प्रासंगिकता समकालीन भारत में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। सामाजिक असमानता, भेदभाव और बहिष्करण जैसे प्रश्न आज भी भारतीय समाज की प्रमुख चुनौतियाँ हैं। अम्बेडकर ने जिन संरचनात्मक समस्याओं की पहचान की थी, वे विभिन्न रूपों में आज भी विद्यमान हैं। इसलिए उनके विचार सामाजिक न्याय, समान नागरिकता और लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा के लिए आज भी वैचारिक मार्गदर्शन प्रदान करते हैं।– रानाडे, गांधी और जिन्ना (1943) इस पुस्तक में अम्बेडकर ने इन तीनों नेताओं के राजनीतिक विचारों का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए भारतीय राष्ट्रवाद की विभिन्न धाराओं को स्पष्ट किया है। यह कृति भारतीय राजनीति की वैचारिक विविधता को समझने में सहायक है।

दलित आंदोलन के विकास में अम्बेडकर की भूमिका आधारभूत रही है। स्वतंत्रता के बाद उभरे विभिन्न दलित आंदोलनों ने अम्बेडकर के विचारों को अपनी वैचारिक प्रेरणा के रूप में अपनाया। शिक्षा, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सामाजिक सम्मान की मांगों में अम्बेडकरवादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। समकालीन दलित आंदोलन

केवल अधिकारों की मांग तक सीमित नहीं है, बल्कि यह सामाजिक चेतना और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का भी माध्यम बन चुका है।

अम्बेडकरवाद की समकालीन व्याख्याएँ इसे एक जीवंत और विकसित होती विचारधारा के रूप में प्रस्तुत करती हैं। वर्तमान समय में अम्बेडकर के विचारों को लैंगिक न्याय, आर्थिक असमानता और मानवाधिकार जैसे व्यापक प्रश्नों से जोड़ा जा रहा है। इस प्रकार अम्बेडकरवाद केवल दलित मुक्ति तक सीमित न रहकर सामाजिक समावेशन और लोकतांत्रिक पुनर्निर्माण की व्यापक परियोजना बनता जा रहा है।

13.8 डॉ. बी. आर. **अम्बेडकर अध्ययन का महत्व**

डॉ. बी. आर. अम्बेडकर का अध्ययन भारतीय समाज और राजनीति को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है। उन्होंने भारतीय सामाजिक संरचना की उन गहराइयों को उजागर किया, जिन्हें लंबे समय तक स्वाभाविक या अपरिवर्तनीय मान लिया गया था। अम्बेडकर ने यह स्पष्ट किया कि जाति व्यवस्था केवल सामाजिक विभाजन की प्रणाली नहीं है, बल्कि यह आर्थिक शोषण, सांस्कृतिक वर्चस्व और राजनीतिक बहिष्करण का माध्यम भी है। उनके विचारों का अध्ययन छात्रों को समाज की जटिल वास्तविकताओं को वैज्ञानिक और आलोचनात्मक दृष्टि से समझने में सहायता करता है।

अम्बेडकर अध्ययन का महत्व इस दृष्टि से भी है कि यह सामाजिक न्याय की अवधारणा को केवल नैतिक आग्रह के रूप में नहीं, बल्कि एक संवैधानिक और संस्थागत आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत करता है। अम्बेडकर के अनुसार, समानता और स्वतंत्रता तब तक अर्थहीन हैं, जब तक समाज के वंचित वर्गों को वास्तविक अवसर और सुरक्षा प्राप्त न हो। इस संदर्भ में उनका चिंतन कल्याणकारी राज्य और सकारात्मक भेदभाव (आरक्षण) जैसी नीतियों को वैचारिक आधार प्रदान करता है। राजनीतिक विज्ञान और लोकतांत्रिक अध्ययन के विद्यार्थियों के लिए अम्बेडकर का अध्ययन विशेष महत्व रखता है। उन्होंने लोकतंत्र को बहुमत के शासन तक सीमित न मानकर अल्पसंख्यकों और कमजोर वर्गों की सुरक्षा से जोड़ा। उनकी 'संवैधानिक नैतिकता' की अवधारणा यह बताती है कि लोकतंत्र केवल संस्थाओं से नहीं, बल्कि नागरिकों के आचरण और मूल्यों से जीवंत रहता है। यह दृष्टिकोण आज के समय में लोकतंत्र के समक्ष उत्पन्न चुनौतियों को समझने में अत्यंत उपयोगी है।

अम्बेडकर अध्ययन का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह धर्म, नैतिकता और राजनीति के संबंधों पर नई दृष्टि प्रदान करता है। अम्बेडकर ने धर्म को सामाजिक समानता और मानव गरिमा के संदर्भ में पुनर्परिभाषित किया। बौद्ध धर्म को अपनाने का उनका निर्णय धार्मिक आस्था के साथ-साथ सामाजिक मुक्ति का भी प्रतीक था। इससे विद्यार्थियों को यह समझने में मदद मिलती है कि विचारधारा और सामाजिक परिवर्तन के बीच गहरा संबंध होता है। समकालीन भारत में बढ़ती सामाजिक असमानता, पहचान आधारित राजनीति और संवैधानिक मूल्यों पर हो रही बहसों के संदर्भ में अम्बेडकर का अध्ययन और भी अधिक प्रासंगिक हो जाता है। उनके विचार को न केवल अतीत को समझने में सहायता

करते हैं, बल्कि वर्तमान समस्याओं के समाधान हेतु एक नैतिक और लोकतांत्रिक दृष्टिकोण भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार, अम्बेडकर अध्ययन अकादमिक ज्ञान के साथ-साथ नागरिक चेतना के विकास में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

13.9 सारांश

इस इकाई में डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के जीवन, विचार और योगदान का समग्र परिचय प्रस्तुत किया गया है। उनके प्रारंभिक जीवन, शिक्षा और सामाजिक अनुभवों ने उनके चिंतन को सामाजिक न्याय और समानता की दिशा में प्रेरित किया। अम्बेडकर का व्यक्तित्व एक संघर्षशील समाज सुधारक और गहन राजनीतिक चिंतक के रूप में उभरता है। इकाई में अम्बेडकर के सामाजिक दर्शन के अंतर्गत जाति व्यवस्था की आलोचना, सामाजिक समानता, न्याय तथा दलित चेतना की अवधारणाओं का विश्लेषण किया गया है। उन्होंने सामाजिक लोकतंत्र को राजनीतिक लोकतंत्र की अनिवार्य शर्त माना और मानव गरिमा तथा आत्मसम्मान को सामाजिक परिवर्तन का आधार बनाया। राजनीतिक विचारों के संदर्भ में अम्बेडकर की लोकतंत्र, अधिकार, समानता और संवैधानिक नैतिकता की अवधारणाओं पर प्रकाश डाला गया है। भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में उनके योगदान, मौलिक अधिकारों, नीति–निदेशक तत्वों और आरक्षण नीति को सामाजिक न्याय के साधन के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अंततः, धर्म, नैतिकता और बौद्ध दर्शन तथा समकालीन भारत में अम्बेडकर की निरंतर प्रासंगिकता को रेखांकित किया गया है।

13.10 प्रमुख शब्दावली

1. सामाजिक न्याय – समाज में व्याप्त ऐतिहासिक असमानताओं को दूर कर सभी वर्गों को समान अवसर और सम्मान सुनिश्चित करने की प्रक्रिया।

2. जाति व्यवस्था – जन्म आधारित सामाजिक विभाजन की प्रणाली, जो ऊँच–नीच और भेदभाव को संस्थागत रूप देती है।

3. सामाजिक लोकतंत्र – ऐसा लोकतंत्र जिसमें राजनीतिक अधिकारों के साथ सामाजिक समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व भी विद्यमान हों।

4. संवैधानिक नैतिकता – संविधान की भावना, मूल्यों और आदर्शों के प्रति नागरिकों एवं संस्थाओं की प्रतिबद्धता।

5. मौलिक अधिकार – संविधान द्वारा प्रदत्त वे मूल अधिकार, जो व्यक्ति की स्वतंत्रता, समानता और गरिमा की रक्षा करते हैं।

6. नीति–निदेशक तत्व – संविधान में निहित वे सिद्धांत, जो राज्य को सामाजिक और आर्थिक न्याय की दिशा में मार्गदर्शन देते हैं।

7. आरक्षण नीति – वंचित वर्गों को प्रतिनिधित्व और अवसर प्रदान करने हेतु अपनाई गई सकारात्मक भेदभाव की नीति।

8. दलित चेतना – दलित समाज में आत्मसम्मान, अधिकार–बोध और सामाजिक जागरूकता का विकास।

9. अम्बेडकरवाद – डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक विचारों पर आधारित वैचारिक परंपरा।

10. बौद्ध दर्शन – करुणा, प्रज्ञा और समानता पर आधारित दर्शन, जिसे अम्बेडकर ने सामाजिक मुक्ति का आधार माना।

13.11 अभ्यास प्रश्न (Exercises)

(क) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के सामाजिक दर्शन की दो प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।
2. सामाजिक लोकतंत्र से अम्बेडकर का क्या आशय था?

(ख) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की जाति व्यवस्था संबंधी आलोचना का विश्लेषण कीजिए।
2. डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की लोकतंत्र की अवधारणा की व्याख्या कीजिए।
3. भारतीय संविधान के निर्माण में डॉ. अम्बेडकर की भूमिका का विवेचन कीजिए।
4. धर्म, नैतिकता और बौद्ध दर्शन के संदर्भ में अम्बेडकर के विचारों का मूल्यांकन कीजिए।

13.12 संदर्भ एवं सहायक पाठ्य सामग्री

1. Ambedkar, B. R. (1936). *Annihilation of Caste*. Bombay.
2. Ambedkar, B. R. (1949). *Constituent Assembly Debates*. Government of India.
3. Ambedkar, B. R. (1957). *The Buddha and His Dhamma*. Bombay: Siddharth College Publications.
4. Ambedkar, B. R. (1989). *Dr. Babasaheb Ambedkar: Writings and Speeches* (Selected Volumes). Government of Maharashtra.
5. Jaffrelot, C. (2005). *Dr Ambedkar and Untouchability: Analysing and Fighting Caste*. New Delhi: Permanent Black.
6. Keer, D. (1971). *Dr. Ambedkar: Life and Mission*. Bombay: Popular Prakashan.
7. Austin, G. (1999). *The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation*. New Delhi: Oxford University Press.

इकाई-14

रणजीत गुहा (Ranjit Guha)

इकाई की रूपरेखा

14 .1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.2 रणजीत गुहा जीवन परिचय

14.3 पद्धतिशास्त्र

14.4 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का अर्थ

14.5 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का विकास

14.6 अधीनस्थ समूहों की मान्यता का प्रश्न

14.7 रणजीत गुहा का अधीनस्थ समूह संबंधी विचार

14.8 अधीनस्थ समूहों का उभरता परिप्रेक्ष्य

14.9 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य अध्ययन एवं गुणवत्ता

14.10 कृषक विद्रोह

14.11 सारांश

14.12 शब्दावली

14.13 अभ्यास प्रश्न

14.14 भावी अध्ययन

14.15 संदर्भ ग्रंथ सूची

14 .1 प्रस्तावना

रणजीत गुहा का जन्म ब्रिरटिश भारत के पूर्वी बंगाल के बाकरगंज जिले में 23 मई 1923 को हुआ था जिसे वर्तमान में 'बांग्लादेश' कहा जाता है। इनका जन्म एक संपन्न परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री राधिका रंजन गुहा ढाका हाईकोर्ट में न्यायाधीश थे।

रणजीत गुहा दक्षिण एशिया में उपनिवेशवाद विरोध और इतिहास के अत्यंत सम्मानित विद्वान, दार्शनिक, पुरस्कार विजेता व टिप्पणीकार थे। अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्यों के अध्ययन में उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व रहा है। इन्हें साबल्टर्न हिस्ट्री (Subaltern History) के जनक कहा जाता है। ये एक इतिहासकार थे। इनकी प्रारंभिक शिक्षा गांव में हुई। बाद में कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज से अपना अध्ययन कार्य पूर्ण किया। गुहा ने इंग्लैंड के एक्सेस विश्वविद्यालय में कई वर्षों तक इतिहास पढ़ाया और इतिहास के प्रोफेसर, रिसर्च स्कूल ऑफ पैसिफिक स्टडीज ऑस्ट्रेलिया नेशनल यूनिवर्सिटी और कैनबरा में भी कार्यरत रहे। उन्होंने इतिहास की पारंपरिक व्याख्याओं की चुनौती दी और हाशिए में पड़े समुदायों विशषकर किसानों के इतिहास पर विशेष ध्यान केंद्रित किया जो आज भी इतिहास लेखन को प्रभावित करता है।

इनके जीवन में प्रोफेसर सोबन सरकार व मधुसूदन दत्त जी का गहरा प्रभाव पड़ा है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण की झलक प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष रूप में इनके अध्ययनों में कहीं-न-कहीं दिखायी पड़ती है। छात्र जीवन से ही ये कई मार्क्सवादी दलों से जुड़े हुए थे और अपने अध्ययन से इन्होंने मार्क्सवादी विचारकों को काफी प्रभावित भी किया है।

गुहा के कार्यों ने न केवल महाद्वीपीय इतिहास के लेखन बल्कि विश्वभर में ऐतिहासिक जांच, साहित्यिक सिद्धांतों, सांस्कृतिक अध्ययन व सामाजिक विश्लेषण को प्रभावित करने का भी कार्य किया। 28 अप्रैल, 2023 को वियना ऑस्ट्रिया में इनका निधन हुआ।

14.2 **उद्देश्य**-

इस इकाई के उद्देश्यों को विद्यार्थी निम्नवत् समझ पायेंगे-

1. रणजीत गुहा का जीवन परिचय
2. पद्धतिशास्त्र को समझना
3. अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का अर्थ क्या है?
4. उपनगरीय अध्ययनों की पहचान।
5. अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य के उभरते प्रतिमानों को समझना।
6. अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का महत्व व उपादेयता।

7. कृषक विद्रोह को समझना।

रणजीत गुहा की प्रमुख कृतियां निम्नवत् है-

1 A Rule of Property For Bengal: An Essay on The Idea of the Permanent Settlement, 1963

2. Elementary Aspects of Peasant Insurgency in Colonial India (1983)

14.3 पद्धतिशास्त्र-

रणजीत गुहा ने अपपने अध्ययनों में जिस पद्धतिशास्त्र का प्रयोग किया वह है-'अधीनस्थ समूहों का परिप्रेक्ष्य'। गुहा 'अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य' के प्रतिपादकों में एक हैं। यह अध्ययन भारतीय साज के अध्ययन का एक तरीका है जिनसे माध्यम से आदिवासी तथा किसान आन्दोलनों को समझा जा सकता है। यह उच्च तथा निम्न वर्ग के बीच की राजनीति को समझने का एक महत्वपूर्ण पपिरपे्रक्ष्य है। इससे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को आसानी से समझा जा सकता है जो स्वयं का ही इतिहास बनाने का प्रयास करता है।

यह इतिहास को आम लोगों विशेष रूप से अभिजात्य वर्गों के अधीन रहने वाले वर्गों के दृष्टिकोण से लिखने का एक ऐसा तरीका जिसका लक्ष्य पारंपरिक इतिहास लेखन में उपेक्षित आम लोगों की भूमि और चेतना को सामने लाता है जो अधिकांशतः केवल अभिजात्य और औपनिवेशिक दृष्टिकोण से ही लिखा जाता था।

संक्षेप में पद्धतिशास्त्र की विशेषताओं को निम्नवत् समझा जा सकता हैः-

- रणजीत गुहा का पद्धतिशास्त्र सबाल्टन अध्ययन है।
- सबाल्टन को गुहा द्वारा स्पष्ट करते हुए लिखा गया है-'यह उन लोगों को संदर्भित करता है जो सामाजिक पदानुक्रम में निचले पायदान पर है जिनका प्रमुख आधार जाति, वर्ग, लिंग और व्यवसाय है।
- इसका उद्देश्य दक्षिण एशिया के इतिहास को अभिजात्य वर्गों के नजरिये से नहीं बल्कि आम लोगों के दृष्टिकोण से लिखना है।
- यह पद्धति आदिवासी तथा किसान आन्दोलनों का अध्ययन करने के लिए महत्वपूर्ण है।

14.4 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का अर्थ-

अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य समाज में हाशिए पर खड़े वर्गों का अध्ययन कर उनकते उद्वार एवं सामाजिक--आर्थिक उत्थान करने पर बल देता है। इस परिप्रेक्ष्य को अपनाने वाले विद्वान भारतीय इतिहास को समझने में जनसाधारण की राजनीति में

भूमिका को महत्व प्रदान करते हैं तथा जनसाधारण विशिष्टजन की राजनीतिक भूमिका में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इन विद्वानों द्वारा 'साधारण' और 'विशिष्टजन' का दो परस्पर विरोधी सरचनात्मक द्वैतता (Structural Dichotomy) के रूप में प्रतिपादित करने का खण्डन किया जाता है।

विद्वानों का मानना है नव-उपनिवेशवादी एवं नवराष्ट्रवादी इतिहासकारों ने हमेशा से विशिष्टजनों की भूमिका को जनसाधारण की तुलना में बहुत अधिक बड़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत किया है। ऐसी स्थिति में दलित, कृषक, आदिवासी समाजों की वास्तविकता को समझना असंभव है और यह सोच भारतीय समाज की वास्तविकता को समझने में भी सहायक नहीं हो सकता है।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान सदैव ऐसे दलित (Subaltern) वर्ग रहे जिन्हांेने भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कस्बों व नगरों से आने वाले श्रमिकों एवं माध्यमिक स्तरों के दलितों को मिलाकर ही 'दलित वर्ग' का निर्माण हुआ। जिनकी भूमिका को किसी भी प्रकार से कम नहीं माना जा सकता। अतः ये जन साधारण या दलित वर्ग न तो विशिष्टजनों की राजनीति का परिणाम हैं न ही अपने उद्धार हेतु विशिष्टजनों पर आश्रित हैं। भारतीय समाज प्राचीन काल से वर्तमान तक इन हाशिए पर खड़े वर्गों के अध्ययन के बिना अधूरा है। इस परिप्रेक्ष्य का अध्ययन करने वाले विद्वानों में डॉ0 अम्बेडकर, कपिल कुमार, डेविड हार्डिमेन आदि प्रमुख हैं।

14 .5 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य का विकास-

1980 तक भारत में अधीनस्थ का तात्पर्य था फौज में कनिष्ठ अधिकारी। इसके बाढ़ इसकी व्याख्या को व्यवस्थित रूप देने के लिए रणजीत गुहा तथा उनके साथियों द्वारा अधीनस्थ विषय पर विभिन्न लेखों के माध्यम से लोगों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया। 1982 से 1984 तक इन निबंधों को नियमित रूप से प्रकाशित किया गया और 'सबाल्टर्न स्टडीज' के नाम पर एक श्रृंखला भी प्रकाशित हुई। इसका उद्देश्य समाजशास्त्रियों को इस दिशा में कार्य करने के लिए पे्ररित करना था लेकिन पिछली दो शताब्दियों के प्रयास से भी अब तक कोई ठोस परिणाम प्राप्त नहीं हुए।

पूर्व में इसका विकास राजनीति व विद्रोहों की चर्चा पर केंद्रित रहा लेकिन धीरे धीरे इसके स्थान पर अधीनस्थ मुद्दों की संस्कृति और उनकी उपनिवेशवादी, प्रभुत्वशाली संस्कृति की गहनता तथा उसके प्रतिरोध के विविध स्वरूपों का विश्लेषण अधिक होने लगा। अधीनस्थ समूहों के परिप्रेक्ष्य के दूसरे चरण में यही विषय प्रमुख थे।

'सबाल्टर्न स्टडीज' के दस भागों में 76 निबन्ध प्रकाशित हुए। इनमें रणजीत गुहा के साथ-साथ पार्था चटर्जी, डेविड ऑर्नोल्ड, डेविड हर्डीमेन, ज्ञानेन्द्र पाण्डे, दीपेश चक्रवर्ती, गौतम भद्र, ज्ञान चक्रवर्ती, स्पिवाक तथा शाहीद अमीन के निबन्ध प्रमुख थे। इन निबन्धों के प्रकाशित होने के बाद से ही इस परिप्रेक्ष्य में व्यापक परिवर्तन आया और सांस्कृतिक आधारों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। जिसने इसके ऐतिहासिक पक्ष में कमी लाना शुरू किया।

14.6 अधीनस्थ समूहों की मान्यता का प्रश्न-

विद्वानों का मानना है कि अधीनस्थ समूहों को कैसे मान्यता मिली। इसके दो कारण हैं-

1- इस परिप्रेक्ष्य के समर्थकों के प्रयासों से इसे मान्यता मिली क्योंकि इनके द्वारा अध्ययनों की मान्यता के लिए काफी प्रयास किया गया और जोर दिया गया।

2- अन्य लोगों द्वारा भी इस तथ्य को सवीकार किया गया। यह लेखकों का प्रयास व उत्साह ही है जिन्हांेने इतिहास के उन पक्षों को उठाया ओर उन परिस्थितियों का परिचय दिया, जो अज्ञात थे। यह भारतीय समाज वैज्ञानिकों के लिए एक नया परिप्रेक्ष्य था। यह थाॅमस कुन की उस बात के समान था जिसमें उन्होंने कहा था कि ''जब समय आता है तब या तो किसी विषय पर प्रयास बीत जाने के कारण या उस क्षेत्र में शोध की बहुतायत से एक नये परिप्रेक्ष्य की सृष्टि हो जाती है।'' जिसका जिक्र उन्होंने अपनी पुस्तक The Structure of Scientific Revoluation में किया है।

14.7 रणजीत गुहा का अधीनस्थ समूह संबंधी विचार-

सबाल्टन स्टडीज' अर्थात् 'अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य' में रणजीत गुहा ने स्पष्ट किया है कि इस अध्ययन के विषय में जो भी अब तक ऐतिहासिक विश्लेषण चल रहे हैं या चल रहे थे अब धीरे-धीरे उनकी महत्ता में कमी आती जा रही है और यदि देखा जाए तो उनका कोई महत्व भी नहीं है। यह ऐतिहासिक केन्द्र तथा सीमाएं शिथिल पड़ रही है। उनका मानना था कि अधीनस्थ समूह के वास्तविक अध्ययन के लिए प्राचीन ऐतिहासिक विश्लेषण को तिलांजलि दे देनी चाहिए।

गुहा ने सुझाव दिया कि अब हमारा ध्यान हाशिए में खड़े कमजोर और दबे-कुचले समूहों पर होना चाहिए। ऐसे लोगों पर ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है जो युद्ध में तोपों को घसीटते रहे और तोप छोड़ने के लिए सहयोग देते रहे। ऐसे ही लोगों की परवाह करना आवश्यक है। राबर्ट के0 मर्टन द्वारा प्रतिपादित यह आधार कि किन्हीं नये पैराडाइम अध्ययनों को समझने के लिए नयी सोच अवश्य यह है, ने भी एक नवीन चेतना को जन्म दिया। जिसने पुरानी सोच बदलने का प्रयास प्रारम्भ किया। यह ठीक ऐसी ही प्रक्रिया थी जैसे किसी शास्त्र के पुराने संदर्भों को समाप्त कर किन्ही नये संदर्भों के आधार पर नयी व्यवस्थाएं स्थापित की जाए। 'सब आल्टन स्टडीज' के संबंध में प्रकाशित बौद्धिक विश्लेषणात्मक निबन्धों के लगातार प्रकाशन और उनमें निहित अकादमीकता ने इन प्रयासों को नयी वैधता दी।

अधीनस्थ समूह के परिप्रेक्ष्य से जुड़े प्रारम्भिक विद्वानों ने अकादमिक संस्थाओं में बहुत अधिक हस्तक्षेप नहीं किया लेकिन इनके द्वारा दिए गए प्रयास काफी प्रभावशाली थे। दो दशकों में लगभग 6 पुस्तकें व 24 आलेख बौद्धिक व उत्कृष्ट थे और इनमें से कई भारतीय भाषाओं पर आधारित थे। अपनी-अपनी रूचि के आधार पर यह लेखन पन्द्रह भागों में प्रकाशित हुआ था। इन सभी लेखनों में यह बात समान थी कि यह सारा लेखन अधीनस्थ समूहों के परिप्रेक्ष्य में लिखे गये थे। शोधपूर्ण क्षमता को ध्यान में रखकर इनको लिखा गया था। जिसने इस नये परिप्रेक्ष्य के प्रति नवीन मानसिकता को प्रतिपादित किया। इस परिप्रेक्ष्य के प्रति विद्वानों के बढ़ते आकर्षण व लोकप्रियता से यह तो सपष्ट हो गया कि एक

नये परिप्रेक्ष्य की स्थापना हो गयी है। जैसा कि पूर्व में सपष्ट किया जा चुका है कि अधीनस्थ समूह के संदर्भ में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य निहित था। अतः इसकी आलोचना स्वाभाविक हो जाती है।

मृदुला मुखर्जी के समर्थकों ने 1988 में इसकी आलोचना करते हुए लिखा था कि ''यह परिप्रेक्ष्य पुरनी बोतल में नयी शराब की तरह है।'' जिस पर स्पष्टीकरण देते हुए अधीनस्थ समूह के समर्थकों ने कहा था कि 'इस पर विद्वान पहले से ही संशंकित थे क्योंकि उन्हें भी इस परिप्रेक्ष्य के प्रति शंकाएं थी।'' लेकिन इस बीच कई लोगों ने इस परिप्रेक्ष्य के संबंध में सहमति व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया। उनका विश्वास था कि यह नया परिप्रेक्ष्य किन्हीं स्पष्टीकरणों को प्रस्तुत् करने में समर्थ है।

14 .8 अधीनस्थ समूहों का उभरता परिप्रेक्ष्य-

अधीनस्थ समूहों के संबंध में जो पहला वक्तव्य दिया गया था, रणजीत गुहा द्वारा उसका समर्थन किया गया। जो 'सब आल्टन स्टडीज' के प्रथम भाग में उल्लेखित है और इसके निम्नवत् बिन्दु निहित हैंः-

- इतिहास में केवल श्रेष्ठजनों या विशिष्टजनों के संबंध में लिखा गया है।
- यह इस बात को दर्शाता है कि यह अधीनस्थ समूहों, गरीबों, कमजोर व दबे कुचले वर्ग की अवहेलना करता है।
- इतिहास में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के संबंध में जो कुछ भी लिखा गया है वह राष्ट्रीय सेवाओं के प्ररिपे्रक्ष्य में ही लिखा गया था।
- भारतीय इतिहास को लिखते समय ऐसे समूह अछूते छोड़ गये या राष्ट्रीय आन्दोलन में इन लोगों के योगदान को नजर अन्दाज किया गया या इनकी विशेष परवाह नहीं की गयी।
- गुहा का मत है कि ऐसे समय में अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य आवश्यक है, जिसमें भारतीय समाज के उन लोगों को देखा जा सके, स्थान दिया जा सके या महत्व दिया जा सके, जो राष्ट्र की मुख्यधारा थे और इतिहास में विभिन्न संघर्षों के वाहक।

भारतीय समाज वैज्ञानिकों की चिन्ताओं का यह समर्थन है। भारतीय सामाजिक क्षमताओं की समझ के लिए उनके द्वारा स्वीकार किया गया कि कहीं-न-कहीं वास्तव में इस वर्ग का अध्ययन उनसे दूट गया। घनागरि ;1993द्ध मानते हैं कि 'इतिहास और नृजातीयशास्त्रीयों ने कृषकों तथा आदिवासी आन्दोलनों के लिए काफी महत्वपूर्ण समाजपयोगी विश्लेषण प्रस्तुत् किये हैं। अधीनस्थ समूहों का इतिहास लेखन श्रेष्ठजनों द्वारा की जाने वाली राजनीति तथा जन राजनीति के सन्तुलन लाने का सफल प्रयास है।'' सिंघी (1966) के अनुसार-जन द्वारा इतिहास में योगदान संभवतः स्थान इसलिए नहीं ले पाया क्योंकि वे गरीब थे। उनकी न तो कोई पहचान थी, न उनके पास साधन थे और न ही उनके विषय में कुछ लिखा गया था। उनके पास कोई ऐसी व्यवस्था या साधन भी नहीं थे जिससे वे अपनी पहचान बना पाते। अधीनस्थ

समूहों के इतिहास लेखन में ये समूह स्वतंत्र और श्रेष्ठजनों से किसी प्रकार संबंधित नहीं थे अर्थात् अधीनस्थ समूहों के संदर्भ में विचारधारा इतनी गुणात्मक व विश्लेषणात्मक नहीं थी। इसका संबंध एक विशिष्ट वर्ग से था।''

भूतकाल के विश्लेषण के लिए रणजीत गुहा की योजना इतनी थी कि भविष्य में परिवर्तन के लिए पहले जो प्रयास किये गये उनके प्रयासों को समझा जा सके, अर्थात् एक अभ्युदय पविर्तनवादी चेतना का रूपांतरण इससे समझा जा सके।

कृषक तथा किसान आन्दोलनों को मात्र खोज का विषय न समझकर उनके प्रयासों को इतिहास निर्माण के रूप में समझा जाना चाहिए। स्पष्टतः यह मार्क्सवादी सोच थी। भारतीय समाजशास्त्रियों द्वारा मार्क्सवाद को स्वीकार करने के विभिन्न कारण थे, जैसे-मार्क्सवाद ने भारतीय समाज में भविष्य के विकल्प को समझने के लिए एक ठोस समाजशास्त्रीय सैद्धांतिक आधार प्रदान किया था।

बुद्धिजीवियों के लिए यह सब कुछ भावात्मक और पहचान किये जाने वाले प्रसंग थे। मार्क्सवाद पर अपार साहित्य ने भी पाश्चात्य समाजवाद के विरूद्ध एक विशिष्ट मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य से नयी सोच विकसित करने में सहायता प्रदान की। मार्क्सवाद का पेराडाइम नव बुद्धिजीवियों के लिए महत्वपूर्ण था।

अधीनस्थ समूहों के अध्ययन ने जन-जीवन, संस्थाओं, उनकी समस्याओं, आन्दोलनों और मूल्यों के निर्माण से संबंधित प्रक्रियाओं, सरंचनात्मक तथा पुनर्संरचनात्मकता को स्थापित करने तथा इन्हें क्षेत्रीय सतर पर समझने की संभावनाओं को जन्म दिया इसलिए इतिहास के लेखन को मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य में नहीं बल्कि इतिहास लेखन तथा संस्कृति के संदर्भ में समझा जाना चाहिए। भारतीय संस्कृति लेखन परिप्रेक्ष्य को विचारात्मक, सैद्धांतिक तथा अनुभाविक संदर्भों में संयोजित किया जा सकता है। यह भारतीयों, उनके द्वारा किये जा रहे स्वयं के सामाजिक प्रबंध, स्थानीय सूक्ष्म व वृहद् स्तर पर समझने में समर्थ हो सकता है। इस योजना के माध्यम से वर्तमान समाज की बहुलता, वैचारिकता और समाज में व्याप्त विभिन्न आधारों को समझा जा सकता है।

अधीनस्थ समूह के माध्यम से जिन किसानों व श्रमिकों के आन्दोलनों की व्याख्या की गयी है उससे स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज का एक पक्ष जन साधारण के समाजशास्त्र से समझा जा सकता है। आन्दोलन एक प्रक्रिया है। इसके माध्यम से अधीनस्थ, शोषण और उत्पीड़न के संदर्भ में विरोध व्यक्त किया जा सकता है। संगठित विरोध की यह विचारधारा उत्पीड़न से मुक्ति का एक प्रयास है जो विचारधारा में परिणित होकर शोषणकारी प्रवृत्ति की रोकथाम कर सकते हैं। धर्म, सामाजिक संस्थाएं, राजनीति और सामाजिक प्रचलन सभी कुछ विचारधारात्मक परिणाम हैं।

स्थानीय नायकों, सामुदायिक नेतृत्व, अकादमिक तथा साहित्यकारों, जो विचारधाराओं से जुड़ी हुई हैं को केवल विचारधाराओं के तत्व और विचारों के संदर्भ में भी नहीं समझा जा सकता है बल्कि व्यक्तियों के सामाजिक जीवन और अस्तित्व के स्तर पर उनके दिन-प्रतिदिन के जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों के संदर्भ में समझा जा सकता है।

14 .9 अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य अध्ययन एवं गुणवत्ता-

तमाम अध्ययनों के पश्चात भी अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य निष्क्रियता की स्थिति में है, परिप्रेक्ष्य मानो एक प्रचलन सा बन गया है। यद्यपि अभी भी यह स्पष्ट करना शेष है कि शोध कार्यों एवं विश्लेषण कार्यों में पूर्व स्थापित साधनों से यह कहां तक श्रेष्ठ है। समाज वैज्ञानिकों में इस अपना क्या अस्तित्व है? प्रारंभिक समाजशास्त्र जो समय के साथ मार्क्सवादी या व्यावहारिक प्रवेश के साथ ही यह प्रश्न उठ खड़े हुए थे, इनका प्रयोग भी काफी विस्तृत था। अब प्रश्न उठता है कि अधीनस्थ समूहवादी कितने हैं? कुछ लोगों का मानना है कि इस परिप्रेक्ष्य की स्वीकारोक्ति या विरोध लोगों के परिप्रेक्ष्य पर निर्भर है। जैसे सुमित सरकार पूर्व में इसके अध्येता और बाद में आलोचक बन गये क्योंकि बाद में उनके अध्ययन साहित्य और संस्कृति पर केंद्रित हो गये। वे मानते थे कि मात्र प्रभुता एवं पराधीनता की संस्कृति के स्वरूपों को समझने से समस्या का समाधान नहीं होता। राजनीति के प्रभुत्वशाली आधार को हटाने के लिए अधीनस्थ समूहों के अध्ययनकर्ताओं द्वारा विस्तृत अध्ययन नहीं किया गया, जो आवश्यक था। अधीनस्थ समूहों की बढ़ती निरंतरता ने कभी प्रशंसा प्राप्त की तो कभी आलोचना भी।

मृदुला मुखर्जी ने 'इकोनामिक एण्ड पालीटिकल वीकली (Economic and Political weekly)के अपने आलेख में लिखा है कि उन्हें ऐसे अध्ययनों पर कोई एतराज नहीं है। वे स्वयं इस परिप्रेक्ष्य के प्रति संवेदनशील हैं लेकिन वे अपनी चिन्ताओं के लिए 'अधीनस्थ' शब्द को प्रयोग में नहीं लाती हैं। समाजशास्त्रीय तथा मानवशास्त्रीय जो इतिहासकारों के संघर्ष को दे रहे थे वे कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं थे।

'कंट्रीब्यूशन टू इण्डियन सोशियोलाजी (Contribution to Indian Sociology) में अधीनस्थ समूहों के अध्ययन पर समीक्षाएं तथा इस पर आधारित लेख प्रकाशित हुए। उनके अनुसार-

- औपचारिक संस्थागत आधारों के प्रति यह परिप्रेक्ष्य संवदेनशील रहे।
- समाजशास्त्रियों तथा मानवशास्त्रियों की मान्यता थी कि जाति और ग्रामीण अध्ययनों में पहले से ही अधीनस्थ समूह के कई पक्षों का अध्ययन किया जा चुका है।
- ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था, जाति व्यवस्था आदि के अध्ययनों में भी इन आधारों की ओर ध्यान आकर्षित कियाा जा चुका है।
- 1990 तक समाजशास्त्रियों की अध्ययन की कड़ियां इतिहास से जुड़ी हुई थी और इतिहास की समझ के लिए उनके द्वारा इस परिप्रेक्ष्य को स्वीकार कर लिया था। यह कहा जा सकता है कि अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य अब विकास की ओर अग्रसर है।

14.10 कृषक विद्रोह

भारतीय समाज में हुए विभिन्न आन्दोलनों में किसान आन्दोलन अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। इसकी जड़ें इतिहास के साथ-साथ समकालीन परिवेश में भी प्रासंगिक हैं और इन आंदोलनों का प्रमुख कारण कृषकों में व्याप्त विद्रोह है। उपनिवेश

काल में कृषकों की एक राजनीतिक भूमिका प्राप्त हुई। देशी-विदेशी परजीवियों से त्रस्त होकर विद्रोह करना प्रारम्भ किया जिसकी परिणति आन्दोलनों के रूप में हुई।

भारत में किसान विद्रोह संबंधी जानकारी अधिकांशतः उपनिवेशवादी शासन ने तैयार की थी। ग्रामीण अंचलों में वे किसानों के संघर्ष को समझना चाहते थे लेकिन इन्होंने इसे कभी भी सामाजिक न्याय के संघर्ष के रूप में नहीं देखा बल्कि वे किसानों की इन गतिविधियों को अपराध या व्याधि समझते थे। रणजीत गुहा ने अपनी कृति 'एलीमेंट्री ऑस्पेक्ट्स ऑफ पीजेंट इमरजेंसी इन कोलोनियल इण्डिया (1983) में इनके द्वारा किये जा रहे विद्रोह के इरादों और उद्देश्यों को समझने की विफलता को सही करने का प्रयत्न किया था। यही कारण था कि किसानों के दृष्टिकोण को समझने, उन्हें जागरूक करने तथा उनकी स्थिति को परिवर्तित करने की इच्छा को अपने अध्ययन में स्थान दिया था। 1783-1900 के बीच की अवधि में गुहा ने उन प्राथमिक बुराईयों को समझने का प्रयास किया जो उस अवधि के किसानों की मानसिकता को स्पष्ट करत थे।

अंग्रेजों के आने से पहले भारत के इतिहास में राजा-महाराजाओं, सुल्तान तथा बादशाहों के शासनकाल में कृषक विद्रोह देखने को नहीं मिलता था क्योंकि भारतीय शासकों द्वारा कर निर्धारित का नियम लागू था जिसे विपरीत अर्थात् बाढ़, भूकम्प, अकाल, सूखा आदि स्थितियों में माफ करने का नियम था। ब्रिटिश शासन ने अपनी आय या राजस्व को ज्यादा से ज्यादा बढ़ाने के लिए भारत में भू-राजस्व नीति प्रारम्भ की। जिसके फलस्वरूप भारत में जमींदारी, रैयतवाड़ी तथा महलवाड़ी प्रथा का अभ्युदय हुआ। इस प्रथा में अंग्रेजों ने उस व्यक्ति को भूमिक का मालिक माना जो अधिक से अधिक बोली लगाकर उसे ले। इस प्रकार ऊँची बोली वाले जमींदार हो गये और इस प्रथा ने स्थायी रूप ले लिया। जमींदार भी तभी तक भूमि का मालिक होता था जब तक वह एक निश्चित अवधि से पहले लगान देता था। ऐसा न करने पर उसकी जमींदारी को नीलाम कर दिया जाता था। अतः जमींदारों को भी अंग्रेजी शासन काल में कर देने की बाध्यता थी।

जमींदारी का कार्य हर हाल में कर देना था। चाहे सूखा हो या अकाल और ब्रिटिश शासन को सिर्फ लगान से मतलब था, चाहे कृषि का उत्पादन हो या नहीं अन्यथा जमीदारी का संकट उत्पन्न हो जाता। इस कर के लिए साहूकारों से ऋण लेना प़ता था जिसकी अदायगी के अभाग में उसमें असन्तोष व्याप्त रहता और इसकी इति सपरिवार आत्महत्या में भी देखी जाती। इस असन्तोष का परिणाम विद्रोह के रूप में उभरा जिसे किसान/कृषक विद्रोह कहा जाता है।

इस अध्ययन का उद्देश्य कृषकों द्वारा किये जाने वाले संघर्षों की श्रृंखला के साथ-साथ किसानों के उत्पीड़न, अधीनस्थता या पराधीनता से मुक्ति पाने की अवस्था को समझने से था। यदि कोई राष्ट्रवादी और कम्यूनिष्ट नेतृत्व के लिए मान्यता प्राप्त लोकप्रिय आंदोलनों पर ध्यान से देखे तो लगभग सभी आन्दोलनों में समानताएं दिखायी पड़ती हैं चाहे वे सत्याग्रह हो, भारत छोड़ो, तेभागा, रैयतवाड़ क्षेत्र के किसान आन्दोलन हो या फिर महाराजाओं और जमींदारों के क्षेत्र के आन्दोलन।

यह अध्ययन ऐतिहासिक संबंधों के प्रभुत्वशाली अधीनता की चर्चा करता है। भारत में 1900 तक प्रभुत्व के इसी स्वरूप का प्रभाव रहा है। विभिन्न समाजों में अधीनस्थता के स्वरूप अलग-अलग थे लेकिन ये सत्य था कि इसमें एक शक्तिशाली वर्ग दूसरे कमजोर वर्ग का शोषण व उस पर अत्याचार करता है। भौतिक तथा आध्यात्मिक परिवेश में हमेशा परस्पर विरोध रहा। श्रेष्ठजन और किसानों के बीच आमूलचूल परिवर्तन के आन्दोलन इस प्रकार के विभेद को मिटाने के लिए होते रहे हैं। इतिहासकारों ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों को जिस प्रकार दर्शाने का प्रयास किया है वे वैसे नहीं हैं क्योंकि विद्रोही परम्परा देश में पहले से ही मौजूद थी। भारतीय राजनीति में गांधी व नेहरू के समय से पूर्व किसानों के विद्रोह की परम्पराएं मौजूद थी। स्वाधीनता संग्राम आन्दोलन उसी विद्रोह का परिणाम था। अतः स्पष्ट है कि रणजीत गुहा का किसान आन्दोलन अभिजात वर्ग के इतिहास लेखन के विपरीत है। यह जनसंघर्ष की एक विशिष्ट चेतना और संरचना है। वे मानते थे कि उपनिवेशवादियों ने कृषक विद्रोह को एक अपराध या व्याधि मानकर प्रस्तुत किया। जबकि यह विद्रोह सामाजिक न्याय की दृष्टि से देखा जाना था।

14 .11 सारांश-

रणजीत गुहा उत्तर उपनिवेशवादी तथा अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य के बहुत बड़े ज्ञाता थे और उन्हें इस समूह के प्रथम सम्पादक के रूप में जाना जाता है। वे मानते थे अधीनस्थता को इतिहासकारों ने केवल श्रेष्ठजनों और विशिष्टजनों के आधार पर प्रस्तुत किया जो हाशिए में खड़े लोगों, गरीब, कमजोर या दबे-कुचले वर्ग की अनदेखी को दर्शाता है।

गुहा ने अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य के आधार पर अधीनस्थ इतिहास लिखना प्रारम्भ किया। जिस आधार पर इन समूहों की वास्तविकता को दर्शाने का प्रयास प्रारम्भ हुए। उनका मानना था कि अधीनस्थ का तात्पर्य केवल कनिष्ठ अधिकारी से नहीं होता बल्कि इसका प्रयोग अकादमिक लेख के रूप में किया जाना आवश्यक है।

गुहा ने इस परिप्रेक्ष्य का उपयोग करते हुए भारत में औपनिवेशिक काल में हुए किसान विद्रोह को अपराध के रूप में नहीं सामाजिक न्याय के रूप में देखने की आवश्यकता पर बल दिया और इसे जन संघर्ष की एक विशिष्ट चेतना व संघर्ष बतलाया।

14 .12 शब्दावली-

अधीनस्थ समूह-अधीनस्थ परिप्रेक्ष्य समाज के कमजोर वर्गों का अध्ययन कर उनके सामाजिक-आर्थिक उत्थान पर बल देता है। भारत में हुए समाजशास्त्रीय अध्ययनों में भी इस परिप्रेक्ष्य को अपनाया गया है।

विशिष्टजन- एक ऐसा वर्ग जिनकी भूमिका को इतिहासकारों ने बहुत बड़ा-चढाकर दर्शाया है जिसके कारण जनसाधारण की भूमिका कतो नगण्य माना जाता है।

पैराडाइम- समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से पैराडाइम किसी समूह की वास्तविकता को समझने, व्याख्या करने तथा उससे निपटने के तरीकों के संदर्भित करता है। यह सामाजिक प्रणालियों और व्यवहारों के विश्लेषण के लिए एक मौलिक ढांचा है।

14 .13 अभ्यास प्रश्न-

1-इनमें से कौन अधीनस्थ समूह के अध्ययन से संबंधित नहीं हैं-

(A) डेविड हार्डिमैन (B) डा0 भीमराव अम्बेडकर

(C) एम0 एन0 श्रीनिवास (D) रणजीत गुहा

2-इनमें से कौन सी पुस्तक रणजीत गुहा द्वारा लिखी गई है-

(A) कास्ट क्लास एण्ड आक्यूपेशन (Caste Class and Occupation)

(A) पीजेंट रैसिस्टेंट इन इण्डिया (Pesant Resistance in India)

(A) मॉडर्नाइजेशन इन इण्डियन टे"डिशन (Modernization in Indian Tradition)

(A) ए रूल ऑफ प्रॉपर्टी फॉर बंगाल (A Rule of Property for Bengal)

3-रणजीत गुहा ने कृषक विद्रोह के अध्ययन के लिए किस पद्धति का प्रयोग किया-

(अ) संरचनात्मक पद्धति (ब) संघर्षवादी पद्धति

(स) प्रकार्यात्मक पद्धति (द) अधीनस्थ समूह पद्धति

निम्नलिखित के आगे सत्य/असत्य लिखिए-

4- रणजीत गुहा का जन्म महाराष्ट्र में हुआ था-सत्य/असत्य

5- गुहा के पिता एक अध्यापक थे- सत्य/असत्य

6-गुहा की मृत्यु 28 अप्रैल, 2023 को हुई थी- सत्य/असत्य

7-अधीनस्थ समूह के पहले खण्ड का सम्पादन 1982 में हुआ-सत्य/असत्य।

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर-

प्रश्न 1 का स

प्रश्न 2 का 4 द

प्रश्न 3 का 4

प्रश्न 4 असत्य

प्रश्न 5 असत्य

प्रश्न 6 सत्य

प्रश्न 7 सत्य।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य पर एक निबन्ध लिखिए।
2. अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य में रणजीत गुहा के विचारों को स्पष्ट कीजिए।
3. अधीनस्थ समूह परिप्रेक्ष्य में रणजीत गुहा के योगदान का विश्लेषण कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. रणजीत गुहा ने अधीनस्थ समूहों की गुणवत्ता हेतु कौन से कार्यों को प्रोत्साहित किया।
2. अधीनस्थ समूहों का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. अधीनस्थ समूह का उभरता परिप्रेक्ष्य क्या है?
4. कृषक विद्रोह पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

14 .14 भावी अध्ययन

1. A Rule of Property for Bengal: An Essay on the Idea of the permanent Settelment (1963)
2. Subatern Studies
3. Elementry Aspect of Insuragency in Colonial India

14 .15 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Dhanagore-Themes and Perspectives in Indian Sociology, Jaipur, 1993
2. Guha Ranjut-A Rule of Property for Bengal: An Essay on the Idea of The Parmanent Settlement Paris-1963
3. Laclau, Ernesti, 1979, Politics and ideology In Marxist Theory, Loandon, Verso Publications
4. Singhi, N.K. (Ed), 1996, Theory and Ideology in indian Sociology, Jaipur: Rawat Publication
5. बी0के0नागला, भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2015
6. महाजन धर्मवीर एवं कमलेश-भारतीय समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य, मेरठ, 2005
7. वी0 एन0 सिंह-भारतीय सामाजिक चिन्तन-दिल्ली-1986